श्रमण

जनवरी-जून 2000

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

पं0 दलसुख भाई मालवणिया स्मृति अंक

वर्ष 51, अंक 1-6 जनवरी-जून संयुक्तांक 2000

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

परामर्शदाता
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ. शिवप्रसाद

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

सम्पादक
श्रमण
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी
पो.आ.-बी.एच.यू.
वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

दूरभाष : 316521, 318046
फैक्स : 0542-318046

ISSN—0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. 150.00
व्यक्तियों के लिए	:	रु. 100.00
[illegible] मूल्य	:	रु. 50.00

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु.1000.00
व्यक्तियों के लिए	:	रु. 500.00

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

हिन्दी खण्ड

१.	जैन दर्शन में निक्षेप : एक विवेचन	– डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय	१-७
२.	जैन ज्ञान मीमांसा – एक अवलोकन	– डॉ. विजय कुमार	८-२९
३.	शूब्रिंग महोदय द्वारा सम्पादित आचारांग और इसिभासियाइं की भाषा की तुलना	– डॉ. के.आर. चन्द्र	३०-३२
४.	सम्यकत्त्वपच्चीसी	– डॉ. मुन्नी जैन	३३-४५
५.	महाभारत एवं आदिपुराण में शिवतत्त्व	– डॉ. पुष्पलता जैन	४६-५०
६.	खरतरगच्छ-लघुशाखा का इतिहास	– डॉ. शिवप्रसाद	५१-६२
७.	महावीर निर्वाण भूमि पावा	– डॉ. ओमप्रकाश श्रीवास्तव	६३-६५
८.	आदिपुराण में विम्ब सौन्दर्य	– डॉ. श्रीरंजनसूरि देव	६६-७५
९.	अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अहिंसा के तत्त्व	– डॉ. मधु अग्रवाल	७६-७९
१०.	महावीर का साधना मार्ग	– श्री दुलीचन्द जैन	८०-८६
११.	तंत्र-मंत्र एवं साधना विधि	– श्री महेन्द्र कुमार जैन	८७-९३
१२.	भारंड पक्षी	– श्री भँवरलाल नाहटा	९४-९८
१३.	अहिंसा की परिधि में पर्यावरण संतुलन	– डॉ. पुष्पलता जैन	९९-१०५
१४.	अमरकोश में शिवतत्त्व	– श्री. ओमप्रकाश सिंह	१०[illegible]
१५.	स्व. श्री शान्तिभाई बनमाली शेठ : एक परिचय		१०९-११०
१६.	आदर्श परिवार की संकल्पना : जैन धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में	– प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'	१११-११३

ગુજરાતી ખંડ

१७.	હરિભદ્રસૂરિનું જ્ઞાનતત્ત્વચિન્તન	– પ્રા૦ રસિકલાલ છોટાલાલ પારિખ	११४–१२३

अंग्रेजी खण्ड

18.	Technical Science in Jaina Canons	— Dr. N.L. Jain	124-129
19.	Divine Essence of Arhat & Tirthankara	— Dr. M.R. Mehata	130-136
20.	Anekasandhānakāvya	— Dr. Shc[illegible] K. Singh	137-150
21.	Jaina Version of Mahābhārata	— Prof. B.C. Jain	151-165
22.	Presidential Address of Professor Y.C. Simhadri		166-170
२३.	पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रांगण मे		१७१-१८९
२४.	जैन-जगत्		१९०-२०१
२५.	साहित्य-सत्कार		२०२-२२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरीश्वर जी महाराज का चातुर्मास

सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक क्षेत्र वर्षावास मनाता आ रहा है। वर्षाकाल का यह चातुर्मास साधु-सन्तों और उनके उपासकों के लिए साधना की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रारम्भ भी जैन धर्म से ही हुआ है जिसका अनुकरण उत्तरकाल में बौद्ध और वैदिक धर्मों ने किया है।

इस वर्ष हमारे जैन समाज का यह अहोभाग्य है कि प०पू० आचार्यश्री राजयशसूरीश्वर जी महाराज ससंघ वाराणसी पधारे हुए हैं। उनके ही कर कमलों से वाराणसी में नवनिर्मित पार्श्वनाथ जैन मन्दिर की पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा नवम्बर माह में होने जा रही है। उनका यह चातुर्मास समग्र जैन समाज के लिए उत्साहवर्धक और एकताकारक होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

भारत की प्राचीनतम सांस्कृतिक नगरी वाराणसी के समस्त जैन समाज का ही नहीं वरन् सभी काशीवासियों का यह परमसौभाग्य है कि हमें आप जैसे षड्दर्शनभिज्ञ, समन्वयवादी, राष्ट्रसन्त का चैत्र वदी दशमी, दिनांक २९ अप्रैल २००० को ५६वाँ जन्मदिवस मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपकी निश्छलता, निष्कामता विदग्धवाग्मिता और प्रगल्भ चिन्तनवृत्ति अनेकान्तिक विचारधारा को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए एक प्रभावक महापथ का निर्माण करती है, जिस पर अग्रसर होकर मानवता की प्रतिष्ठा की जा सकती है। मानवता ही धर्म है और वही जैन धर्म है। आपश्री जैनधर्म के वरिष्ठ आचार्य हैं और आपका अभिनन्दन कर हम सभी अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं।

गुजरात का नडियाड नगर आज से ५६ वर्ष पूर्व इस दिन परम-पावन हुआ था, जब वहाँ आप जैसे आध्यात्मिक सन्त का अवतरण हुआ और भारत-धरा सही अर्थ में वसुन्धरा हुई। बाल्यावस्था की सरस कल्लोलों में विचरण करते हुए आपने आदर्श परिवार के सुसंस्कारों के बीच अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया और जैनधर्म के वीतरागमयी महापथ के पथिक बने। महापथ की इस यात्रा में रत्नत्रयी ही आपका पाथेय रहा है।

महासंवेगी लब्धिसूरि की ज्ञान किरणों से द्योतित विक्रमसूरि जैसे साधक की गुरुतर छाया पाकर आपने स्वयं को यथार्थ शिष्य सिद्ध किया और अपनी विलक्षण प्रतिभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर 'राजयश' नाम को चरितार्थ किया।

गुजरात की पावन गोद में पले-पुसे आपश्री समस्त जैन समाज की ही नहीं अपितु राष्ट्र की एक महान् विभूति हैं। अहर्निश ज्ञान-ध्यान, साधना में जुटे आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी साहित्य का प्रगाढ़ अध्ययन सृजन कर स्वानुभूति के शीतल निर्झर में सांसारिक तपन को प्रशान्त किया और संसारियों को नैतिकता की ओर मोड़ने का प्रशस्त आयास किया है। इसलिए हम आपका अभिनन्दन करते हैं।

चार तीर्थङ्करों के जन्मकल्याणक वाली इस वाराणसी महानगरी में आपके शुभागमन ने एक नया अध्याय जोड़ा है। आपकी गरिमामय उपस्थिति से ही यहाँ का समाज समन्वयवाद की मधुर धारा में प्रवाहित होता दिखायी दे रहा है। आपके मधुर स्वभाव का ही यह प्रतिफल है कि सारा समाज एक स्वर से आपको अपना मानकर आपके गुणों का अभिनन्दन-अभिवन्दन कर रहा है।

जैन समाज आज जिस टूटे-बिखरे कगार पर खड़ा है उससे उबारने का दृढ़ संकल्प लिये अपने जिस समन्वयवादी विचारधारा का पोषण किया है वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के बीच उभरे हुए मनोमालिन्य को दूर कर सहृदयता, सहजता, वात्सल्यता और भ्रातृत्वभाव को प्रस्थापित करने में आपकी एक सही अनेकान्तवादी आचार्य की भूमिका रही है। निष्पक्ष होकर विकारों को शान्तिपूर्वक निपटाने की आपकी मनोभूमिका में दोनों समाजों को जो बल दिया है वह आधुनिकयुगीन जैन इतिहास की एक विशिष्ट धरोहर है। हमारी समग्र तरुण पीढ़ी भी इस धरोहर को यदि सम्हाल कर रखना सीख ले तो निश्चित ही भावात्मक एकता के सूत्र जुड़ेंगे और सकल जैन समाज पारस्परिक स्नेहित भाव से अनुप्राणित हो जायेगा।

आप एक ओजस्वी प्रवचनकार एवं कुशल साहित्यस्रष्टा हैं। स्वानुभूति के आधार पर वीतरागता का उपदेश देकर आप मन्त्रमुग्ध सा कर देते हैं। आपके भक्ति रस के प्रवाह से आध्यात्मिकता और भी प्रगाढ़ हो रही है। इस अध्यात्म और भक्ति की प्रबल धारा आपके अरिहन्तसिद्ध पद विवेचक, सम्यक् दृष्टि की साधना, जैनधर्म की रूपरेखा, भक्तामर दर्श, अभिनव महाभारत, विक्रम आन्तर वैभव, मुनि सुव्रत, पञ्चकल्याणक पूजा आदि हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थों में प्रवाहित होती हुई दिखायी देती है। ये ग्रन्थ आपकी कुशल साहित्य-सर्जना और अगाध विद्वत्ता के निदर्शन हैं। इतना ही नहीं, आप एक कुशल प्रभावक आशु कवि भी हैं। आपकी कविताएँ मानवतावाद से आप्लावित और जैन सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं।

एक ओर आपने मुमुक्षुओं को अपना अनुगामी बनाकर वीतराग पथ पर चलने का पाथेय दिया है तो दूसरी ओर नवीन जैन मन्दिरों का निर्माण कर समाज को साधना की ओर मोडा है। साथ ही प्राचीन जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कर आपने जिनशासन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की महती सेवा एवं प्रभावना की है। इन नूतन मन्दिरों की प्राणप्रतिष्ठा करने-कराने की आपकी सुन्दर पद्धति हम सभी को बरबस ही आकर्षित कर रही है। वाराणसी के नवनिर्मित जिन मन्दिर की पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा करने की स्वीकृति देकर आपने अपने घनीभूत वात्सल्य का ही परिचय दिया है। एतदर्थ यहाँ का सम्पूर्ण समाज आपका कृतज्ञ है।

आम्नायविषयक संकीर्णता के कटघरों से स्वयं को मुक्त कर सरलता की प्रतिमूर्ति के रूप में आपने अपनी पहचान बनायी है, वचन में संयम, चिन्तन में सापेक्षता और व्यवहार में उदारता आपके प्रभावक गुण हैं। आचार्य के सभी गुणों से आभूषित होकर आपने अनुशासन की बागडोर को जिस मृदुता और प्रवणता के साथ सम्भाला है वह हम सभी के लिए गौरवान्वित होने का विषय है। युग-चेतना की महाप्राणधारा आपके तेजस्वी व्यक्तित्व की प्रकृष्ट साधना है।

आपके आगमज्ञान, जप-तप और स्वाध्याय ने आपको जिनशासन के अनुशासित शास्ता के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। आपकी स्पृहणीय विद्वत्ता, अप्रमत्त संयम साधना और जागरूक उदारता से जिनधर्म की वास्तविक छवि का आभास होता है। आध्यात्मिक साधना और धर्मचर्चा में निष्णात आपका अलग व्यक्तित्व एक छत्रछाया सा बन गया है। अपनी परिधि में रहते हुए भी आपके चिन्तन का क्षेत्र संकीर्णता की सीमा से हटकर व्यापकता की ओर बढ़ रहा है जो एकल और समत प्रस्थापित करने की दिशा में एक सुन्दर एवं शुभ लक्षण है। हम सभी इसलिए आपका अभिनन्दन कर रहे हैं।

जैनधर्म का अनेकान्तवाद आपके आचार और व्यवहार में प्रतिबिम्बित होता है। आपकी समन्वयवादी वृत्ति जैन एवं जैनेतर समाज को समान रूप से प्रभावित कर रही है। जैनधर्म की अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति ने आपके व्यक्तित्व को जिस समन्वयवाद की ओर मोड़ा है वह निश्चित ही सारे समाज में एक नई विचार-क्रान्ति पैदा करेगा और जैनधर्म को शान्ति प्रस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित करने में सक्षम होगा।

आत्मसाधना के डगर पर बढ़ते हुए आपके चरण दृढ़ संकल्प, आस्था, निष्ठा और करुणा के महासागर में अवगाहन करने के लिए सतत् अग्रसर हो रहे हैं। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाओं के अध्ययन से आपने पाषाण को भी अर्थवत्ता और प्राणवत्ता प्रदान की है। वाराणसी में आपकी गरिमामय उपस्थिति निश्चित ही सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना जागृत करने में एक अहं भूमिका निभायेगी। आपका वैदुष्य, स्नेहिलता, चिन्तनशीलता और कल्याणवृत्ति व्यक्ति और समष्टि को सही दिशा में मोड़ने के लिए एक अद्भुत प्रेरणा-स्रोत का काम करेगी। इस आशय से ही हम आपके शुभ चिन्तन का अभिनन्दन कर रहे हैं।

आपकी सामाजिकता, सहृदयता, धर्मप्रवणता और निष्पक्ष विचारशीलता हमारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमूल्य धरोहर है। हम इस निधि से समृद्ध होकर अनुपम गौरव का अनुभव कर रहे हैं। वाराणसी जैसी सांस्कृतिक महानगरी में इस मङ्गल प्रवेश की इस बेला पर सकल समाज आपका हार्दिक स्वागत कर रहा है। आप पूर्ण स्वस्थ रहें और निष्पक्ष रूप से सामाजिक समरसता प्रस्थापित करने में अपना अमूल्य योगदान दें, इस शुभ कामना और शुभ भावना के साथ हम आपका पुनः-पुनः अभिनन्दन कर रहे हैं। इस पुनीत आशा के साथ कि आप जीवन पर्यन्त निरामय रहें और वीतराग साधना का सफलतापूर्वक प्रचार-प्रसार करते रहें।

इस स्वर्णिम अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ भी आपका हार्दिक अभिनन्दन कर रहा है। लगभग साठ वर्ष पुराना यह शोधसंस्थान जैन साहित्य और संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अविरल लगा हुआ है। आप आचार्यश्री ने हमारे यहाँ ससंघ पधारकर अपरिमित सन्तोष और प्रसन्नता व्यक्त की है। इतना ही नहीं उसके अभ्युत्थान और विकास के लिए भी भरपूर सहयोग देने का आश्वासन दिया है। आपके ही आशीर्वाद से यहाँ दस कमरों वाले एक सुन्दर छात्रावास का निर्माण शुरु हो रहा है जो नवम्बर २००० तक बनकर तैयार हो जायेगा। इसी तरह का सहयोग आपश्री अन्य क्षेत्रों में भी देना चाहते हैं। हम आपके और आपके शुभेच्छुओं के प्रति पुनीत आशीर्वाद के लिए सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

पं० दलसुखभाई मालवणिया दिवंगत

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मार्गदर्शन, जैन विद्या के उन्नायक, सुप्रसिद्ध दार्शनिक, पद्मविभूषण पं० दलसुखभाई मालवणिया का विगत १ मार्च को लम्बी बीमारी के पश्चात् ८४ वर्ष की अवस्था में निधन हो गया। अत्यन्त निर्धनता में पले-पुसे श्री मालवणिया जी का समग्र जीवन एक सशक्त स्वाध्यायी विद्वान् के रूप में बीता। उन्होंने १९३४ई० में मुम्बई में ४० रुपये मासिक पर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के मुख्यपत्र **जैनप्रकाश** के सम्पादन से अपना जीवन प्रारम्भ किया। इतनी ही राशि में उन्हें प्राइवेट ट्यूशन से मिल जाती थी। सन् १९३६ में आप मात्र ३५ रुपये मासिक पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी के रीडर नियुक्त हुए। धीरे-धीरे पण्डित जी के साथ आपका सम्बन्ध गुरु-शिष्य और बाद में पिता-पुत्र जैसा हो गया। सन् १९४४ में आप पं० सुखलाल जी के अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। सन् १९५७ में मुनि पुण्यविजय जी की प्रेरणा से अहमदाबाद में श्रेष्ठी श्री कस्तूरभाई द्वारा स्थापित **लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर** के निदेशक बनकर वहाँ गये और जहाँ से १९७६ई० में सेवानिवृत्त हुए।

अपने वाराणसी प्रवास के समय पण्डित जी ने **प्राकृत ग्रन्थ परिषद् और जैन**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति संशोधन मण्डल की स्थापना की। इन दोनों संस्थाओं से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। संशोधन मण्डल का तो अब पार्श्वनाथ विद्यापीठ में विलय हो गया है, परन्तु **प्राकृत ग्रन्थ परिषद्,** अहमदाबाद में अब भी कार्यरत है।

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर का जैन विद्या के अध्ययन, संशोधन, प्रकाशन आदि के क्षेत्र में आज जो गौरवशाली स्थान है उसके मूल में पण्डित दलसुखभाई का अविस्मरणीय योगदान है।

पण्डित जी ने न केवल भारत अपितु विदेशों में भी अध्यापन कार्य किया। सन् १९६६-६७ में उन्हें एक वर्ष के लिये टोरन्टो विश्वविद्यालय, कनाडा में भारतीय दर्शन के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया।

पं० दलसुखभाई की उल्लेखनीय साहित्य सेवा के उपलक्ष्य में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा **सर्टीफिकेट ऑफ ऑनर** एवं भारत सरकार द्वारा **पद्मविभूषण** से सम्मानित किया गया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की स्थापना के समय से ही आप इससे जुड़े रहे और इसे समय-समय पर अपनी निःस्वार्थ सेवायें उपलब्ध कराते रहे। प्रो०सागरमल जैन को संस्थान के निदेशक पद पर लाने में इन्हीं का सहयोग रहा है। प्रो० जैन के नेतृत्त्व में विद्यापीठ ने जो प्रगति की, वह सर्वविदित है।

अपने जीवन के अन्तिम समय में आप गम्भीर रूप से अस्वस्थ रहे। पिछले नवम्बर मास में अहमदाबाद में जब प्रो० सागरमल जी आपसे मिले तो आपने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। यह भी एक संयोग ही रहा कि जब विद्यापीठ में आपके निधन का समाचार मिला, तब प्रो० सागरमल जी यहीं वाराणसी में ही थे।

पूज्य पण्डित जी के निधन से जैन विद्या के क्षेत्र में अपूरणीय क्षति हुई है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार अपने इस सच्चे एवं निःस्वार्थ मार्गदर्शक के निधन पर हार्दिक संवेदना प्रकट करते हुए उन्हें श्रद्धाञ्जलिस्वरूप **श्रमण** का यह अंक समर्पित करता है।

विभिन्न अपरिहार्य कारणों से **श्रमण** के दो अंक हम समय पर नहीं प्रकाशित कर सके, जिसका हमें हार्दिक खेद है। अब आपके हाथों में उसका संयुक्तांक पहुँच रहा है। आशा है, इसमें प्रकाशित विभिन्न शोध-आलेख आपको पसन्द आयें। इस अवसर पर विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे अपने उच्च कोटि के अप्रकाशित लेख भेजकर हमें कृतार्थ करें।

शिव प्रसाद
सम्पादक

भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
प्रधान सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में 'निक्षेप' : एक विवेचन

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

जैन दर्शन में वाच्यार्थ का निर्धारण करने के लिए दो प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं १. नयसिद्धान्त और २. निक्षेपसिद्धान्त। दोनों सिद्धान्तों का मूलभूत उद्देश्य यही है कि श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गए शब्दों अथवा कथनों का सही अर्थ जान सके। जैसा कि नय की परिभाषा ही की गयी है कि 'वक्तुरभिप्राय: नय'।[१] अत: वक्ता के आशय या कथन को तात्कालिक सन्दर्भ में सम्यक् प्रकार से समझने की पद्धति है— नय सिद्धान्त। निक्षेप जैनधर्म का एक पारिभाषिक एवं लाक्षणिक शब्द है, जिसका पदार्थबोध के लिए परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। निक्षेप की अनेक व्याख्याएँ विभिन्न ग्रन्थों में मिलती हैं। जीतकल्पभाष्य में 'नि' शब्द के तीन अर्थ लिए गए हैं— ग्रहण, आदान और आधिक्य। 'क्षेप' का अर्थ है— प्रेरित करना। अर्थात् जिस वचन पद्धति में नि/अधिक क्षेप/विकल्प है वह निक्षेप है।[२] सूत्रकृताङ्गचूर्णि में जिनदासगणि महत्तर ने निक्षेप की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिसका क्षेप/स्थापन नियत और निश्चित होता है वह निक्षेप है। दूसरे शब्दों में जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान या उपचार से वस्तु में जिन प्रकारों से आक्षेप किया जाय— वह निक्षेप है।

निक्षेप के द्वारा वक्ता के प्रकथन में अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ का निरूपण किया जाता है। आचार्य यशोविजय ने निक्षेप की अपनी परिभाषा में कहा है कि— जिससे प्रकरण (सन्दर्भ) आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निराकरण होकर शब्द के वाच्यार्थ का यथास्थान विनियोग होता है, ऐसी रचना विशेष को निक्षेप कहा गया है। वस्तुत: शब्द का प्रयोग वक्ता ने किस अर्थ में किया है इसका निर्धारण करना ही निक्षेप का कार्य है। जैसे हम राजा राज्य करने वाले शासक, राजा नामधारी व्यक्ति, भूतपूर्व राजा आदि सभी को राजा कहते हैं, किन्तु किस प्रसङ्ग में शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, यह स्पष्ट होना आवश्यक है। निक्षेप हमें अर्थनिर्धारण की प्रक्रिया को समझाता है। समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन एवं प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है— जैसे— सैन्धव लाओ। भोजन करते समय यदि 'सैन्धव लाओ' कहा जाय तो वहाँ 'सैन्धव' शब्द का अर्थ नमक, एवं यदि युद्ध के समय 'सैन्धव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाओं' कहा जाय तो वहाँ 'सैन्धव' का अर्थ होगा— घोड़ा। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते हैं, वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ सामान्य के चार विभाग हैं जिन्हें निक्षेप या न्यास कहते हैं।

नय और निक्षेप की अवधारणाएँ प्राचीन (चौथी-तीसरी शती) हैं।ये स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास के पूर्व की हैं। निक्षेप की अवधारणा को यदि हम ऐतिहासिक विकास क्रम में देखें तो जैन वाङ्मय में निक्षेप के सिलसिलेवार विकास क्रम का अभाव है। निक्षेप जिस रूप में और जिन-जिन अर्थों में जैन आगमिक साहित्य में बिखरा हुआ है, उनमें ऐतिहासिक सम्बन्ध दर्शाने वाला कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता। प्रो०बी०डी०भट्ट[३] के अनुसार इन निक्षेपों को इनके अर्थ, प्रकार,परिभाषा एवं तार्किक शब्दावली की दृष्टि से किसी निश्चित सीमा या क्राइटेरिया में बाँधा नहीं ज़ा सकता। प्रो०भट्ट के अनुसार निक्षेप को मुख्यतया आगमिक निक्षेप (Canonical Positings) और आगमोत्तर निक्षेप (Post Canonical Positings) के रूप में दो भागों में बाँटा जा सकता है।

जिन श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में निक्षेप का विवेचन उपलब्ध है उनमें भगवती, जीवाभिगम और प्रज्ञापना ये तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त— स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार में भी निक्षेप की विस्तृत चर्चा की गयी है। दिगम्बर आगमों में षट्खण्डागम, धवला, कसायपाहुड आदि प्रमुख हैं जिनमें निक्षेप का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

आगमों के अतिरिक्त श्वेताम्बर दिगम्बर व्याख्या साहित्य में भी निक्षेप की अवधारणा के प्रचुर उल्लेख एवं विवरण उपलब्ध हैं। उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्तिक, नयचक्र, आप्तपरीक्षा, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में भी निक्षेप की अवधारणा प्राप्त होती है। अत: ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से निक्षेप सिद्धान्त एक प्राचीन सिद्धान्त है।

प्रश्न यह उठता है कि नय जब स्वयं वाच्यार्थ निरूपण में समर्थ है तो निक्षेप की क्या आवश्यकता है? राजवार्तिक में कहा गया है कि जो विद्वान् शिष्य हैं वे केवल दो नयों से ही वक्ता के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को समझ लेते हैं लेकिन जो मन्दबुद्धि शिष्य हैं उनके लिए पृथक नय एवं निक्षेप का कथन किया गया है।

सामान्य लक्षण

- 'न्यसनं न्यस्यतइति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थ:।' अर्थात् नामादिकों में वस्तु के रखने का नाम निक्षेप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- 'उपायो न्यासो उच्यते'[४] अर्थात् नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।[५]
- धवला में ही कहा गया है कि— 'संशये विपर्यये अनध्यवसाए वा स्थित तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः' अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं।

नयचक्र के अनुसार 'जुत्तीभुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होई खलु ठवणं। वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये'[६] अर्थात् युक्तिमार्ग से प्रयोजन वश जो वस्तु का नाम आदि ४ भेदों में क्षेपण करे उसे आगमों में निक्षेप कहा गया है।

निक्षेप के भेद या प्रकार

निक्षेप के मुख्य रूप से चार प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है— (१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप, (३) द्रव्य निक्षेप एवं (४) भाव निक्षेप।

षट्खण्डागम एवं धवला में सर्वत्र छः नयों की चर्चा की गयी है तथा छः निक्षेपोंके आश्रय से प्रत्येक प्रकरण की व्याख्या की गयी है। निक्षेप को अनुयोगद्वार भी कहा गया है। अनुयोगद्वार के ज्ञान अध्ययन में निक्षेप के ओघनिष्पन्ननिक्षेप, नामनिष्पन्ननिक्षेप और सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप— इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। ओघनिष्पन्ननिक्षेप, अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा के रूप में चार प्रकार का है। अध्ययन के नामाध्ययन, स्थापनाध्ययन, द्रव्याध्ययन और भावाध्ययन— ये चार भेद हैं। अक्षीण के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव— ये चार भेद हैं। इन चार में भावाक्षीणता के आगमतः भावाक्षीणता और नोआगमतः भावाक्षीणता दो रूप हैं।

आय के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ प्रशस्त आय है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की प्राप्ति अप्रशस्त आय है। क्षपणा के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। क्षपणा का अर्थ निर्जरा, क्षय है। क्रोधादि का क्षय होना प्रशस्त क्षपणा है। ज्ञानादि का नष्ट होना अप्रशस्त क्षपणा है।

ओघनिष्पन्ननिक्षेप के विवेचन के प्रश्चात् नामनिष्पन्ननिक्षेप का विवेचन करते हुए कहा है— जिस वस्तु का नामनिक्षेपनिष्पन्न हो चुका है उसे नामनिष्पन्ननिक्षेप कहते हैं, जैसे सामायिक। इसके भी नामादि चार भेद हैं। भावसामायिक का विवेचन विस्तार से किया है और भावसामायिक करने वाले श्रमण का आदर्श प्रस्तुत करते हुए बताया है— जिसकी आत्मा सभी प्रकार से सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर मूलगुणरूप संयम, उत्तरगुणरूप नियम तथा तप आदि में लीन है उसी को भावसामायिक का अनुपम लाभ प्राप्त होता है। जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, उनके प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समभाव रखता है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर जो न किसी अन्य प्राणी का हनन करता है, न करवाता है और न करते हुए की अनुमोदना ही करता है वह श्रमण है, आदि।

सूत्रालापक निक्षेप वह है जिसमें 'करेमिभंते सामाइयं' आदि पदों का नामादि भेदपूर्वक व्याख्यान किया गया है। इसमें सूत्र का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करने की सूचना दी गयी है। श्लोकवार्तिक में निक्षेप के अनन्त भेदों की चर्चा की गयी है— 'नन्वनन्तः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसन्। नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपतः।' और कहा गया है कि उन अनन्त निक्षेपों का संक्षेप रूप से चार में ही अन्तर्भाव हो जाता है अर्थात् संक्षेप से निक्षेप चार हैं[७] एवं विस्तार से अनन्त।

चार निक्षेप

नाम निक्षेप— व्युत्पत्तिसिद्ध और प्रकृत अर्थ की अपेक्षा न रखने वाला जो अर्थ माता-पिता या अन्य व्यक्तियों के द्वारा किसी वस्तु को दे दिया जाता है वह नाम निक्षेप है।[८] नाम निक्षेप में न तो शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ, और न प्रचलित अर्थ या उसके नाम के अनुरूप गुणों पर विचार किया जाता है अपितु मात्र वस्तु को संकेतित करने के लिए उसका कोई नाम रख दिया जाता है, जैसे— कुरूप व्यक्ति का नाम सुदर्शन। अतः नाम किसी व्यक्ति या वस्तु को दिया गया वह शब्द संकेत है जिसका अपने प्रचलित अर्थ, व्युत्पत्तिपरक अर्थ और गुणनिष्पन्न अर्थ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। एक तथ्य जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि नाम निक्षेप में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें एक शब्द से एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।

स्थापना निक्षेप— किसी वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र में उस मूलभूत वस्तु का निरूपण ही स्थापना निक्षेप है, जैसे— जैन प्रतिमा को जिन, बुद्ध प्रतिमा को बुद्ध, तथा नाटक के पात्र आदि स्थापना निक्षेप के उदाहरण हैं। यह दो प्रकार का होता है—

(१) तदाकार स्थापना निक्षेप (सद्भाव स्थापना निक्षेप)

(२) अतदाकार स्थापना निक्षेप (असद्भाव स्थापना निक्षेप)

वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति में उस वस्तु का आरोपण करना यह तदाकार स्थापना निक्षेप है, जैसे— गाय की आकृति के खिलौने को गाय कहना। अतदाकार निक्षेप उसे कहते हैं जब जो वस्तु अपने मूलभूत वस्तु की प्रतिकृति तो नहीं है किन्तु उसमें उसका आरोपण कर उसे उस नाम से पुकारा जाता है तो वह तदाकार स्थापना निक्षेप है, जैसे— शतरंज की मोहरों में मन्त्री, राजा, वज़ीर आदि का आरोपण अतदाकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेप के उदाहरण हैं।[९] तदाकार एवं अतदाकार स्थापना निक्षेप के काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्म, लोप्यकर्म, लयनकर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म और वाराटक आदि भेद किये गये हैं।

नाम एवं स्थापना निक्षेपों में अन्तर— यद्यपि नाम और स्थापना दोनों निक्षेपों में संज्ञा रखी जाती है, क्योंकि बिना नाम रखे स्थापना नहीं हो सकती, फिर भी स्थापित अर्हन्त, ईश्वर आदि की प्रतिमाओं में जो आदर और अनुग्रह की अभिलाषा होती है, वह नामनिक्षेप में नहीं है।

द्रव्य निक्षेप— जो अर्थ या वस्तु पूर्व में किसी पर्याय या अवस्था में रही हो अथवा भविष्य में भी किसी पर्याय या अवस्था में रहने वाली हो, उसे वर्तमान में भी उसी नाम से संकेतित करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे कोई व्यक्ति पहले कभी अध्यापक था, किन्तु वर्तमान में सेवा निवृत्त हो चुका है तब भी उसे अध्यापक कहना यह द्रव्यनिक्षेप है अथवा उस विद्यार्थी को भी डाक्टर कहना जो अभी डॉक्टरी पढ़ रहा हो, द्रव्य निक्षेप है।[१०]

वस्तुत: आगामी पर्याय की योग्यता वाले उस पदार्थ को द्रव्य कहते हैं जो उस समय उस पर्याय के अभिमुख हो अथवा अतद्भाव को द्रव्य कहते हैं जैसे— इन्द्र प्रतिमा के लिए लाए गए काष्ठ को भी इन्द्र कहना। द्रव्य का अर्थ ही है जो अपने गुणों व पर्यायों को प्राप्त होता है, हुआ था और होगा। अत: तदनुसार राजा के श्रमण अवस्था में रहने पर उसे राजा कहना द्रव्य निक्षेप है।

भावनिक्षेप— 'वर्तमानतत्त्वपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव:।' अर्थात् वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। अत: भाव निक्षेप का अर्थ है— जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त अर्थ सम्यक् प्रकार से घटित होता हो, वह भाव निक्षेप है जैसे— किसी धनाढ्य व्यक्ति को लक्ष्मीपति कहना, या शिक्षण दे रहे व्यक्ति को शिक्षक कहना आदि।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि द्रव्यनिक्षेप एवं भाव निक्षेप में संज्ञा, लक्षण आदि की दृष्टि से भेद है। द्रव्य निक्षेप तो भाव अवश्य होगा किन्तु भाव द्रव्य हो यह आवश्यक नहीं। क्योंकि हो सकता है उस पर्याय में आगे योग्यता रहे भी और न भी रहे। आज भी हम महाराज बनारस और महाराजा ग्वालियर जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु आज इन शब्दों का वाच्यार्थ वह नहीं है जो १९४७ के पूर्व था। वर्तमान में इन शब्दों का वाच्यार्थ द्रव्यनिक्षेप के आधार पर निर्धारित होगा जबकि उस समय वह भावनिक्षेप के आधार पर निर्धारित होता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नय की दृष्टि से ४ निक्षपों का वर्गीकरण

भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय है जबकि नाम, स्थापना और द्रव्य, द्रव्यार्थिक नय हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीन द्रव्यार्थिक नयों में चारों निक्षेप सम्भव हैं जबकि ऋजुसूत्र में स्थापना के अतिरिक्त तीनों निक्षेप सम्भव हैं। शब्दनय नाम, निक्षेप एवं भावनिक्षेप को स्वीकार करता है। शब्द, समभिरूढ़, एवंभूतनय में नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं।

प्रो० बी०डी०भट्ट ने अपने ग्रन्थ 'The Canonical Nikṣepa'[११] में निक्षेप के दो मुख्य वर्गीकरण— आगमिक निक्षेप (Canonical Positings) और उत्तर आगमिक निक्षेप (Post Canonical Positings) का उल्लेख किया है।

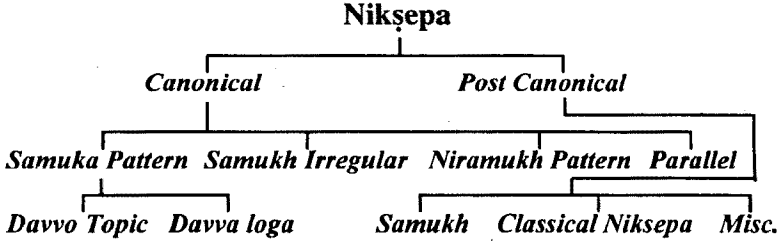

आगमिक निक्षेप उस निक्षेप से सर्वथा भिन्न है जो दर्शन के क्षेत्र में किया जाता है यद्यपि इन आगमिक, उत्तर आगमिक निक्षेप और विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त पदों (Determinants) में (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) में समानता है। डॉ० बंशीधर भट्ट ने लुडिविग आल्सडार्फ द्वारा किये गये गैर पारम्परिक वर्गीकण को आधार बनाकर निक्षेप को छः प्रकार से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। पदों की स्पष्टता के लिए हम उन्हें अंग्रेजी में ही दे रहे हैं।

Forms of the Nikṣepa	*Ś.Ā.*	*"Śarīra" and "Āgama"*
	Sāmukha	*Nikṣepa with Āmukha, i.e. with "Programme" (the literal sense of āmukha is "commencement")*
	Nirāmukha	*Nikṣepa without Āmukha, i.e. "Without Programme"*
	Davvao	*[Nikṣepas introducting the determinants in the ablative case, e.g. :] davvao ["according to substance"]*
	Davva-loga	*[Nikṣepas supplying determinant and catch-word in the form of a compound, e.g. :] Davva-LOGA ["world according to substance"]*
	Āmukha style	*Recurring dialectical pattern, employing "programmes" but not to be classified as nikṣepa.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस वर्गीकरण में सामुख और निरामुख आगमिक निक्षेप के मूल प्रारूप हैं तथा 'दव्वो' और 'दव्व-लोग' सामुख के उपप्रकार हैं। इसके माध्यम से डॉ० बंशीधर भट्ट ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि आगमिक और उत्तरआगमिक साहित्य में निक्षेप कहीं तो व्यवस्थित रूप से (With Programme) आये हैं और अन्यत्र निक्षेप का स्वरूप प्राप्त तो होता है लेकिन उसमें स्पष्टत: निक्षेप शब्द का उल्लेख नहीं है। डॉ० भट्ट के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने निक्षेप के पारम्परिक शब्दों (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) के अतिरिक्त भी अन्य बहुत से शब्दों के आधार पर शब्द विशेष का वर्गीकरण किया है। आगमों में प्रतिपादित निक्षेप विषयक समस्त सिद्धान्त को इस लेख में समाविष्ट करना सम्भव नहीं है, इसके लिए एक विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

सन्दर्भ :

१. स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ २४३.

२. जीतकल्पभाष्य, ८०९.

3. The Canonical Nikṣepa, Studies in Jaina Dialectics, Banshidhar Bhatt, Bharatiya Vidya, Prakashan, 1991, p. 40.

४. धवला, १/१/१/१, गा० ११/१७.

५. तिलोयपण्णत्ति, १/८३.

६. नयचक्रवृत्ति, २६९.

७. धवला, १४/५-६, ७१/५१/१४.

८. डॉ० सागरमल जैन, जैनभाषा दर्शन, पृष्ठ ७७.

९. जैन तर्कभाषा, निक्षेप परिच्छेद, पृष्ठ ६३.

१०. वही, पृष्ठ ६४.

11. The Canonical Nikṣepa, Bharatiya Vidya, Prakashan, 1991, p.40.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन ज्ञानमीमांसा – एक अवलोकन

*डॉ० विजय कुमार**

सामान्य रूप से किसी वस्तु की अभिव्यक्ति को ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान अपने विषयों को ठीक उसी प्रकार प्रकाशित करता है जिस प्रकार दीपक का प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जैन मान्यतानुसार ज्ञान जीव या आत्मा का लक्षण है। वह निसर्गत: अनन्त ज्ञानविशिष्ट है, किन्तु कर्मों के आवरण से उसका विशुद्ध चैतन्य रूप ढ़का रहता है, जो सम्यक्-चारित्र पालन से पुन: अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आयारो में कहा गया है— **जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।**[१] अर्थात् जो आत्मा है, वह जानता है और जो जानता है, वह आत्मा है। ज्ञान और आत्मा में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध है।[२] ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है।[३] ज्ञान गुण है तथा आत्मा गुणी है, अत: गुण और गुणी के रूप में यह भिन्न है।

व्यवहार में ज्ञान के लिए कई पर्यायवाची शब्द आते हैं, जैसे- जानना, समझना आदि। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर दोनों में थोड़ा अन्तर है। जैसे- हम कहते हैं कि हम मोहन को जानते हैं, तो सुनने में ठीक लगता है; लेकिन यह कहें कि आपको मोहन का ज्ञान है तो अटपटा-सा लगता है। कारण कि जब हम मोहन को जानने के सम्बन्ध में कथन करते हैं तो इसका अभिप्राय होता है कि हम मोहन से मिल चुके हैं, उसे देखा है आदि। परन्तु ठीक इसके विपरीत जब हम कहते हैं कि 'हम गणित जानते हैं' तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि यदि हमें गणित का कोई प्रश्न दिया जाये तो हम उसका हल निकाल सकते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार का कथन कुछ इन्द्रियों से सम्बन्धित है तथा दूसरे प्रकार का कथन बुद्धि से। खैर! इस भेद पर गहन चिन्तन की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त देखे जा सकते हैं, जो स्वयं अपने को ही सत्य होने का दावा करते हैं, जैसे— **ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद** (Epistemological Dualism), **ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद** (Epistemological Idealism), **ज्ञानमीमांसीय एकवाद** (Epistemological Monism), **ज्ञानमीमांसीय वास्तववाद** (Epistemological Realism) आदि। ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद वह सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष, स्मृति तथा अन्य अतार्किक ज्ञान-प्रक्रियाओं में ज्ञेय वस्तु और मानसिक प्रदत्त

*. प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या प्रतिभाएँ एक-दूसरे से पृथक् होती हैं।[४] ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार ज्ञान का विषय (Object) और ज्ञान की अन्तर्वस्तु (Contect) एक ही है, क्योंकि मानसिक प्रत्ययों से स्वतन्त्र ज्ञान का कोई विषय नहीं हो सकता।[५] जिसमें अतार्किक ज्ञान-प्रक्रियाओं में, जैसे प्रत्यक्ष और स्मृति में ज्ञेय वस्तुएँ और मन के संवेदन-प्रदत्त (Sense-data) एक ही होते हैं, वह ज्ञानमीमांसीय एकवाद है।[६] ज्ञानमीमांसीय वास्तववाद के अनुसार ज्ञान का विषय मन से बाहर स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। व्यापक अर्थ में यह सिद्धान्त सभी ज्ञान-प्रक्रियाओं पर लागू किया जाता है, लेकिन संकीर्ण अर्थ में विषयवस्तु का मनोबाह्य अस्तित्व केवल प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के सन्दर्भ में प्रतिपादित किया जाता है।[७]

ज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

ज्ञान आत्मस्वरूप है जिससे वह स्व और पर दोनों को जानने में समर्थ है। नन्दीचूर्णि में ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है— (१) जानना ज्ञान है, (२) जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है और (३) जिसमें जाना जाता है वह ज्ञान है।[८] इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाये वह ज्ञान है अथवा जाननामात्र ज्ञान है।[९] राजवार्तिक में एवंभूतनय की दृष्टि से ज्ञान को परिभाषित किया गया है। कहा गया है— ज्ञान-क्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान स्वभावी है।[१०] यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि आत्मा ज्ञान स्वभावी है अर्थात् आत्मा और ज्ञान एक है तो फिर आत्मा अपने ज्ञान को कैसे जान सकती है? क्या उसके लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है? यदि किसी अन्य ज्ञान की सत्ता स्वीकार करते हैं तो अनवस्था दोष आता है। इस सन्दर्भ में जैन मान्यता है कि ज्ञान अपने-आपको जानता हुआ ही दूसरे पदार्थों को जानता है। वह दीपक की भाँति स्व-पर प्रकाशक है। प्रमाणनयतत्त्वालोक में स्पष्ट वर्णन आया है कि स्व-पर व्यवसायी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।[११] नियमसार के अनुसार भी ज्ञान का धर्म दीपक की भाँति स्व-पर प्रकाशकपना है।[१२]

वास्तव में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी ही यथार्थ ज्ञान है। इसमें ज्ञेय और ज्ञान दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। द्रव्य, गुण और पर्याय ज्ञेय हैं तथा ज्ञान आत्मा का गुण है। यद्यपि ज्ञान और ज्ञेय दोनों स्वतन्त्र हैं फिर भी दोनों में सम्बन्ध है। आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में ज्ञान और ज्ञेय में विषय-विषयीभाव का सम्बन्ध है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

(१) ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।

(२) ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

(३) ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) ज्ञान अर्थरूप नहीं है।

अर्थात् इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं, फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। वही दोनों में कथंचित् अभेद की हेतु है।[१३] लेकिन न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने लेकिन पदार्थ अपने रूप में अवस्थित रहता है। तात्पर्य है पदार्थ ज्ञान का विषय बने या न बने, फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज है तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।[१४]

ज्ञान के मौलिक रूप

सामान्यत: ज्ञान के दो मौलिक रूप होते हैं— **प्रत्यक्ष** और **अप्रत्यक्ष**। प्रत्यक्ष में हम इन्द्रिय-उपलब्धों और मानसिक अवस्थाओं को देख सकते हैं। इनकी स्मृति भी हमें स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जैसे आँख बन्द करके किसी वस्तु को देखते हैं तो उसे भी पहचान लेते हैं। अप्रत्यक्ष ज्ञान में अनुमान का अंश भी होता है, किन्तु यह क्रिया स्मृति की सहायता से ही होती है। जैसे- दूर चमकीलापन दिखायी पड़ता है और हम कह देते हैं कि वहाँ रेत है। इसका अभिप्राय है हमने पहले भी रेत देखा है और विविध ज्ञानेन्द्रियों ने मुझे विविध गुणों का बोध कराया है। इस समय की चमक पहले देखी हुई चमक के समान जान पड़ती है और हम कह बैठते हैं कि मैं रेत देख रहा हूँ। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष का यह विश्लेषण अन्य दर्शनों में मिल सकता है जैन दर्शन में नहीं। न्याय दर्शन में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। किन्तु जैन दर्शन में प्रत्यक्ष-परोक्ष को ठीक इसके विपरीत विश्लेषित किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है तथा जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का यह विश्लेषण जैन दर्शन में किया गया उत्तरवर्ती विश्लेषण है, क्योंकि आगमयुग (ईसा पूर्व से ५वीं शताब्दी तक) तक जैन साहित्य में ज्ञान-मीमांसा की ही प्रधानता रही है। प्रमाणान्तर्गत प्रत्यक्ष-परोक्ष का ज्ञानमीमांसा में प्रवेश आर्यरक्षित और उमास्वाति के काल में हुआ है, ऐसा माना जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रमाण का प्रारम्भ करनेवालों में दो प्रमुख आचार्य हैं — "आर्यरक्षित और उमास्वाति। आर्यरक्षित ने अनुयोग का प्रारम्भ पञ्चविध ज्ञान के सूत्र से किया है। उन्होंने प्रमाण की चर्चा ज्ञान-गुण प्रमाण के अन्तर्गत की है। इसका निष्कर्ष है कि प्रमाणमीमांसा का मौलिक आधार ज्ञानमीमांसा ही है। उमास्वाति ने पहले पाँच ज्ञान की चर्चा की है, फिर ज्ञान प्रमाण है इस सूत्र की रचना की है।[१५] जैनविद्या के मर्मज्ञ प्रो० सागरमल जैन भी ज्ञानमीमांसा में प्रमाण का आगमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३-४थी शताब्दी ही मानते हैं,[१६] जो आर्यरक्षित और उमास्वाति का काल माना जाता है। उमास्वाति ने पञ्चज्ञान को ही दो प्रमाणों में विभक्त किया है।[१७] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को परोक्ष तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाया है। प्रमाण को दो भागों में विभक्त कर उनका पञ्चज्ञान के साथ सम्बन्ध जोड़ना जैन दर्शन में उमास्वाति द्वारा किया गया नया मोड़ है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी प्रवचनसार में प्रमाण के दो विभाग किये हैं, किन्तु प्रमाण की कोई चर्चा नहीं की है।[१७]

आगमों में प्राप्त तथ्यों से भी यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान के पाँच प्रकार ही पूर्ववर्ती हैं। पञ्चज्ञान की चर्चा राजप्रश्नीय में भी हुई है। उसमें श्रमण केशीकुमार के मुख से कहलवाया गया है कि हम श्रमणों के ग्रन्थों में ज्ञान निश्चय ही पाँच प्रकार के बतलाये गये हैं— आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान।[१८] इन पाँच ज्ञानों में से आभिनिबोधिक ज्ञान मुझे है, श्रुतज्ञान मुझे है, अवधिज्ञान मुझे है, मनःपर्यवज्ञान भी मुझे प्राप्त है, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान भगवन्त अरिहन्तों को होता है।[१९] स्थानांग[२०] और भगवती[२१] में भी ज्ञान के पाँच प्रकारों का वर्णन है। तत्त्वार्थसूत्र में भी इन्हीं पाँच ज्ञानों का उल्लेख है।[२२] किन्तु इनके विभाजन में अन्तर है। स्थानांगसूत्र[२३] के अनुसार विभाजन निम्नलिखित है—

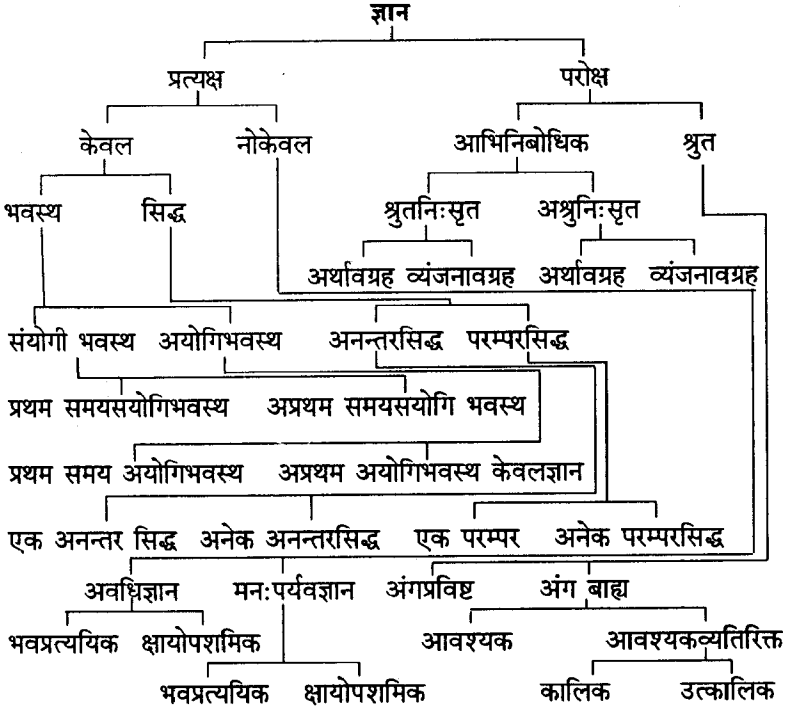

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती[२४] के अनुसार ज्ञान का विभाजन निम्न प्रकार से है—

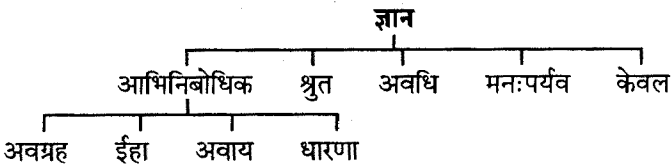

भगवती में ज्ञान के इन प्रकारों का निरूपण करने के पश्चात् ग्रन्थ में कहा गया है कि राजप्रश्नीय में जो ज्ञान के भेद बताये गये हैं उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। अत: राजप्रश्नीय[२५] के अनुसार ज्ञान के भेद इस प्रकार हैं—

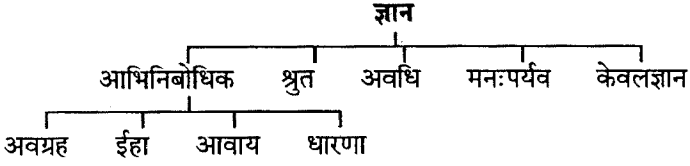

राजप्रश्नीय में भगवती में वर्णित सूची को बताते हुए अवग्रह,श्रुत, अवधि, मनःपर्यव के दो-दो प्रकार बताते हुए केवलज्ञान सहित वर्णन नन्दीसूत्र के अनुसार जानने का निर्देश किया गया है। जैसाकि पं० दलसुखभाई मालवणिया ने भी लिखा है कि सूत्रकार ने आगे का वर्णन राजप्रश्नीय से पूर्ण कर लेने की सूचना दी है और राजप्रश्नीय (सूत्र १६५) को देखने पर मालूम होता है कि उसमें पूर्वोक्त नक्शे के अलावा अवग्रह के दो भेदों का कथन करके शेष की पूर्ति नन्दीसूत्र से कर लेने की सूचना दी है।[२६] नन्दीसूत्र[२७] के अनुसार ज्ञान का विभाजन निम्नलिखित है—

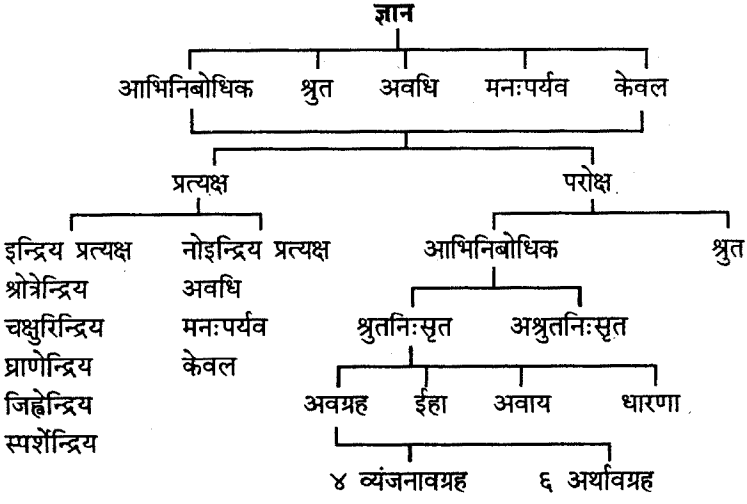

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त विभाजित ज्ञान को पं० दलसुखभाई मालवणिया तीन भूमिकाओं में व्यक्त करते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान-चर्चा के विकासक्रम को आगम के आधार पर देखना हो तो उनकी तीन भूमिकाएँ हमें स्पष्ट दीखती हैं।

(१) प्रथम भूमिका तो वह, जिसमें ज्ञानों को पाँच भेदों में ही विभक्त किया गया है।[२८] इसके अन्तर्गत उन्होंने भगवतीसूत्र में किये गये ज्ञान के विभाजन को रखा है।

(२) द्वितीय भूमिका में ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों में विभक्त करके पाँच ज्ञानों में से मति और श्रुत को परोक्षान्तर्गत और शेष अवधि, मनःपर्यव और केवल को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत किया गया है।[२९] इस भूमिका के अन्तर्गत स्थानांगसूत्र में वर्णित ज्ञान के भेद-प्रभेद आते हैं।

(३) तृतीय भूमिका में इन्द्रियजन्य मतिज्ञान का परोक्ष के अन्दर समावेश किया गया है अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय में स्थान दिया गया है जिसमें लोकानुसरण स्पष्ट है।[३०] इस भूमिका के अन्तर्गत पण्डितजी ने नन्दीसूत्र में वर्णित ज्ञान के भेद-प्रभेद को रखा है।

उपर्युक्त भूमिकाओं में प्रथम भूमिका प्राचीन मालूम पड़ती है, क्योंकि भगवती में ज्ञान के पाँच प्रकार तथा मतिज्ञान के चार प्रकारों को बताने के पश्चात् नन्दी के अनुसार जानने का निर्देश दिया गया है। यदि नन्दी के आधार पर देखा जाए तो भगवती में प्रत्यक्ष और परोक्ष का वर्णन उपलब्ध नहीं है तथा उसमें आभिनिबोधिक के अवग्रह, ईहा आदि चार प्रकार बताये गये हैं जबकि नन्दी में आभिनिबोधिक के श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेद किये गये हैं जिनका वर्णन भगवती में उपलब्ध नहीं है। हाँ! आगम क्रमांक की दृष्टि से स्थानांगसूत्र में वर्णित ज्ञान के प्रकार को ज्ञान-विकास की प्रथम भूमिका कही जा सकती है। लेकिन स्थानांगसूत्र में कुछ ऐसे तथ्यों का भी समावेश है जिसके कारण विद्वत्जन उसे बाद की रचना मानते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य देवेन्द्रमुनि जी का कहना है कि जैनदृष्टि से भगवान् महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। अतः वे पश्चात् होनेवाली घटनाओं का संकेत करें, इसमें किसी भी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। जैसे— नवम स्थान में आगामी उत्सर्पिणीकाल के भावी तीर्थङ्कर महापद्म का चरित्र दिया है, और भी भविष्य में होने वाली अनेक घटनाओं का उल्लेख है।[३१] आचार्यश्री का यह मत उनकी धार्मिक भावना को प्रदर्शित करता है। इस सन्दर्भ में पं० दलसुखभाई मालवणिया का कथन तर्कपूर्ण लगता है। उनका मानना है कि स्थानांग जैसे अंग ग्रन्थों में वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी की घटना का भी उल्लेख आता है; किन्तु इस प्रकार के कुछ अंशों को छोड़कर बाकी सब भाव पुराने हैं। भाषा में यत्र-तत्र काल की गति और प्राकृत भाषा होने के कारण भाषा-विकास के नियमानुसार परिवर्तन होना अनिवार्य है।[३२] आचार्य महाप्रज्ञ के मतानुसार महावीर ने किसी आगम की रचना नहीं की। उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कहा उसको आधार मानकर गणधरों और स्थविरों ने आगम की रचना की। आचार आदि अंग सूत्रों की रचना एक योजनाबद्ध ढंग से की गई थी। समवायांग और नन्दी में उपलब्ध द्वादशांगी के विवरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[३३] स्थानांग में परवर्ती विषयों का भी समावेश हुआ है— वह इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि स्थानांग के पञ्चम स्थान के तृतीय उद्देश में ज्ञान के पाँच प्रकार बताये गये हैं तथा द्वितीय स्थान के प्रथम उद्देशक में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप ज्ञान के दो भेद बताये गये हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के सन्दर्भ में इतना तो स्पष्ट है कि जैन ज्ञानमीमांसा में इनका समावेश परवर्ती है।

उपलब्ध आगम ग्रन्थों के आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि भगवती में प्राप्त ज्ञान का भेद-प्रभेद उसके विकास का प्रथम चरण है तथा स्थानांग में वर्णित भेद-प्रभेद द्वितीय चरण। काल की दृष्टि से भी यह स्पष्ट है, क्योंकि भगवती २-३री शताब्दी तथा स्थानांग ४थी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। नन्दी में वर्णित ज्ञान के भेद-प्रभेदों का स्थानांग के भेद-प्रभेदों से अन्तर यही है कि नन्दी में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष-उभय माना गया है। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि पंचज्ञान का यह विभाजन महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का है, क्योंकि केशीकुमार पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु माने जाते हैं।[३४] पं० मालवणिया जी के अनुसार उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने आचार-विषयक कुछ संशोधनों के अतिरिक्त पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान में विशेष संशोधन नहीं किया। यदि भगवान् महावीर ने तत्त्वज्ञान में भी कुछ नयी कल्पनाएँ की होतीं, तो उनका निरूपण भी उत्तराध्ययन में अवश्य होता।[३५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान के मुख्यत: पाँच ही प्रकार हैं। विकासक्रम की दृष्टि से देवर्धिगणी के काल तक ज्ञान की पृथक्-पृथक् भूमिकाएँ बन गयी थीं, क्योंकि भगवती में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार स्थानांग में प्रत्यक्ष के अन्तर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विभाग नहीं है। यह विभाग केवल नन्दी में प्राप्त होता है।

दिगम्बर परम्परा में भी ज्ञान के पाँच प्रकार ही स्वीकृत हैं।[३६] किन्तु वहाँ ज्ञान का विभाजन कई अपेक्षा दृष्टियों से किया गया है। प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा से ज्ञान के दो भेद हैं।[३७] पुन: परोक्ष के दो-मतिज्ञान व श्रुतज्ञान तथा प्रत्यक्ष के तीन-अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान भेद किये गये हैं।[३८] राजवार्तिक में ज्ञान के प्रकार को कुछ अलग ढंग से निरूपित किया गया है। उसके अनुसार सामान्य रूप से ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है, द्रव्य-गुण-पर्याय रूप विषयभेद से तीन प्रकार का है। नामादि निक्षेपों के भेद से चार प्रकार का है। मति आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा से पाँच प्रकार का है। ज्ञेयाकार परिणति के भेद से संयात-असंख्यात् व अनन्त है।[३९]

आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान)

सामान्यत: बुद्धि के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। मन धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने से मति शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है— बुद्धि, तर्क आदि। इस आधार पर तर्कपूर्ण ज्ञान ही मतिज्ञान सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता को एक-दूसरे का पर्यायवाची कहा है।[४०] विशेषावश्यकभाष्य में आचार्य भद्रबाहु ने ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा आदि[४१] को मतिज्ञान का पर्यायवाची बतलाया है। मतिज्ञान को परिभाषित करते हुए उमास्वाति ने कहा है— इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न ज्ञान मतिज्ञान है।[४२] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किया जाता है, जो मनन करता है या मननमात्र, मति कहलाता है।[४३] यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अभिनिबोधिक ज्ञान विषय के अन्तर्गत मतिज्ञान की चर्चा की जा रही है। अत: यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आगमों में आभिनिबोधिक ज्ञान का जो अर्थ इष्ट है, तत्त्वार्थसूत्र में भी वही अर्थ लिया गया है। नन्दीचूर्णि के आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ ने आभिनिबोधिक ज्ञान की उत्पत्ति के दो नियम बताये हैं— (१) अर्थ (इन्द्रिय विषय) की अभिमुखता— उसका उचित देश में होना और (२) नियतबोध— प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय का बोध करती है। अत: इन दो नियमों के आधार पर होनेवाला ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान है।[४४] जहाँ तक आभिनिबोधिक शब्द के लाक्षणिक अर्थ का प्रश्न है तो आगमों में इसका लाक्षणिक अर्थ प्राप्त नहीं होता है। आभिनिबोधिक और मति के पौर्वापर्य के विषय में जैन विद्वान् डॉ० नथमल टाटिया जी का कहना है कि — The terms mati-Jñana seems to be older than the terms ābhinibodhika. The Karma theory speaks of mati-Jñanāvarana but never ābhinibodhika-Jñanāvarana. Had the term been as old as 'mati', the karma theory which is one of the oldest tenets of Jainism must have mentioned it with reference to the āvarana that veils it.[45]

डॉ० टाटिया जी के इस कथन के सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख सर्वप्रथम किस ग्रन्थ में हुआ है? ऋषिभाषित में जो अष्टकर्मग्रन्थि का उल्लेख आया है इसकी विस्तृत व्याख्या उत्तराध्ययन में उपलब्ध है। आगम साहित्य में अष्टमूल प्रकृतियों और उनके अवान्तर भेदों की चर्चा करनेवाला यह प्रथम ग्रन्थ है। सम्भवत: उत्तराध्ययन में ही सर्वप्रथम अष्टकर्म प्रकृतियों को घाती और अघाती कर्म में वर्गीकृत किया गया है। इसमें ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुष्य की ४, नामकर्म की २, गोत्र की २ और अन्तराय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ५ उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख है।[४६] इससे यह तो स्पष्ट है कि मतिज्ञानावरण कर्मप्रकृति ई०पू० में ही अपने अस्तित्व में आ गयी थी, क्योंकि विद्वानों ने उत्तराध्ययन का काल ई०पू० तीसरी शताब्दी माना है। एकमात्र उत्तराध्ययन के ३३वें अध्याय को लेकर विद्वानों में मतभेद है फिर भी यह अध्याय ई०पू० का ही माना जाता है। उत्तराध्ययन के अतिरिक्त आगमों में मति शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम भगवती में मिलता है, जो ज्ञान और बुद्धि दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[४७] इनके अतिरिक्त आचारांग,[४८] सूत्रकृतांग[४९] आदि में की मति शब्द आये हैं, किन्तु वे वहाँ बुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अत: यहाँ उत्तराध्ययन के आधार पर मतिज्ञान की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है, किन्तु राजप्रश्नीय में श्रमण केशीकुमार जो पार्श्व की परम्परा के थे, के मुख से यह कहलवाना कि मुझे आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हैं, आभिनिबोधिक ज्ञान के प्रचलन की प्राचीनता को दर्शाता है।

मतिज्ञान मुख्यत: दो प्रकार का है, जैसाकि परिभाषा से ही परिलक्षित होता है। पहला प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान का है तथा दूसरा प्रकार मनोजन्य (अनिन्द्रियजन्य) ज्ञान का। किन्तु भेद की दृष्टि से प्रत्येक इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मतिज्ञान के चार-चार भेद होते हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। दिगम्बर परम्परा में मतिज्ञान के भेद-प्रभेद कई दृष्टियों से बताये गये हैं। जैसे पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में मतिज्ञान के तीन प्रकारों का उल्लेख है— उपलब्धि, भावना और उपयोग।[५०] इसी प्रकार तत्त्वार्थसार में स्वसंवेदन ज्ञान, इन्द्रियज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान, बुद्धि, मेधा आदि को मतिज्ञान का प्रकार बताया गया है।[५१] स्वसंवेदन का भावार्थ बताते हुए पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने लिखा है— शरीर के भीतर रहने वाला ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त 'मैं' एक पृथक् पदार्थ हूँ, ऐसा जो अपने-आप ज्ञान होता है, उसे स्वसंवेदन कहते हैं। यहाँ पं० पन्नालाल जी का कथन विचारणीय है— इस सन्दर्भ में कि ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त 'मैं' ही आत्मा है और आत्मा से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। जबकि मतिज्ञान परोक्षज्ञान है। इसी प्रकार स्मरण, मेधा आदि मति के पर्यायवाची माने जा सकते हैं, भेद नहीं। मतिज्ञान के प्रकारों को विश्लेषित करने से पूर्व सारिणी के रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

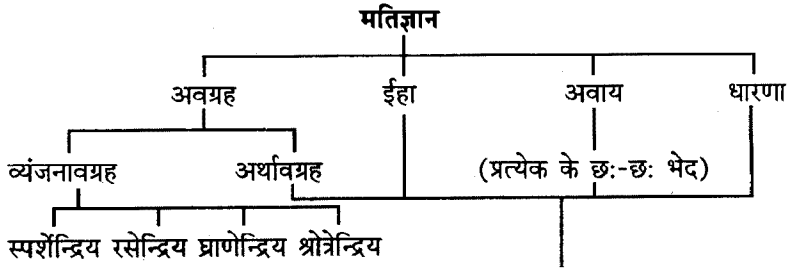

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

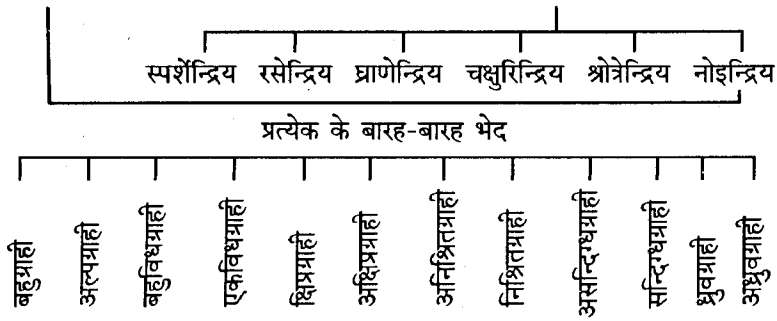

इस प्रकार पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों के अर्थावग्रह आदि चार-चार भेद के हिसाब से २४ भेद होते हैं तथा उनमें चार व्यंजनावग्रह के योग से २८ हो जाते हैं और इन सबको बहुग्राही, अल्पग्राही बारह भेदों से गुणा करने पर कुल भेद ३३६ होते हैं। किन्तु इसका एक भंग और प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र में ही पं० सुखलाल जी संघवी ने विवेचना की है कि अर्थावग्रह के जो बारह भेद घटित किये गये हैं वे अर्थावग्रह के व्यावहारिक पक्ष के हैं जबकि उसका एक पक्ष नैश्चयिक भी होता है। वास्तव में व्यावहारिक अर्थावग्रह का कारण नैश्चयिक अर्थावग्रह है और उसका कारण व्यंजनावग्रह है। अत: नैश्चयिक अर्थावग्रह के भी बारह-बारह भेद गिनने चाहिए। इस तरह ३३६ में ४८ भेद जोड़ देने पर ३८४ भेद करते हैं।[५२] अब हम इनका अलग-अलग स्वरूप देखेंगे।

अवग्रह— अवग्रह ज्ञान की अव्यक्तावस्था है। हमें इतना ही ज्ञात होता है कि 'यह कुछ है'। अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध के पश्चात् का ज्ञान है। अवग्रह के दो भेद हैं— व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।[५३] इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को व्यंजनावग्रह कहते हैं। पं० सुखलाल जी संघवी के शब्दों में इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की पुष्टि के साथ कुछ काल में तज्जनित ज्ञानमात्रा भी इतनी पुष्ट हो जाती है कि जिससे 'यह कुछ है' ऐसा विषय का सामान्य बोध (अर्थावग्रह) होता है। इस अर्थावग्रह का उक्त व्यंजन से उत्पन्न पूर्ववर्ती ज्ञान व्यापार जो उस व्यंजन की पुष्टि के साथ ही क्रमश: पुष्ट होता जाता है, व्यंजनावग्रह कहलाता है।[५४] इसमें विषय का सामान्य बोध भी नहीं होता। यही कारण है कि इसको अव्यक्ततम, अव्यक्ततर, अव्यक्त ज्ञान कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि अर्थावग्रह व्यंजनावग्रह के बाद का ज्ञान है; किन्तु नन्दी में अवग्रह के प्रकार बताते समय क्रम से अर्थावग्रह को पहले तथा व्यंजनावग्रह को बाद में बताया गया है।[५५] लेकिन ज्ञान की प्रक्रिया की दृष्टि से व्यंजनावग्रह का स्थान पहले है। व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह की अवस्था को समझाने के लिए जैन दर्शन में कसोरे का बहुत ही प्रसिद्ध उदाहरण है जिसका उल्लेख पं०सुखलाल जी ने भी किया है। भट्ठे में से तुरन्त निकाले हुए अति रूक्ष कसोरे में पानी की एक बूँद डाली जाय तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कसोरा उसे तुरन्त सोख लेता है, यहाँ तक कि उसका कोई नामोनिशान नहीं रहता। इसी प्रकार आगे भी एक-एक कर डाली गयी अनेक जल बूँदों को वह कसोरा सोख लेता है। अन्त में ऐसा समय आता है जब वह जल बूँदों को सोखने में असमर्थ होकर उनसे भींग जाता है और उसमें डाले हुए जलकण समूह रूप में इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते हैं। कसोरे की आर्द्रता पहले-पहल जब मालूम होती है, उसके पूर्व भी उसमें जल था, पर उसने इस तरह जल को सोख लिया था कि (जल के बिल्कुल तिरोभूत हो जाने से) दृष्टि में आने जैसा नहीं था, परन्तु कसोरे में वह था अवश्य। जब जल की मात्रा बढ़ती है और कसोरे की सोखने की शक्ति कम होती है तब कसोरे में आर्द्रता दिखाई देने लगती है और जो जल कसोरे के पेट में नहीं समा सकता है वह ऊपर के तल में दिखाई देने लगता है। यही अवस्था व्यञ्जनाग्रह से अर्थावग्रह तक की होती है। व्यंजनावग्रह के चार तथा अर्थावग्रह के छः भेद होते हैं जिसका उल्लेख पूर्व में सारणी के अन्तर्गत किया जा चुका है। व्यंजनावग्रह के चार भेद इसलिए बताये गये हैं कि चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता। नन्दी[५६] में अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

ईहा— अवग्रह द्वारा जाने हुए सामान्य विषय का विशेष रूप से निश्चय करने के लिए होनेवाली विचारणा ईहा है। जैसे— ध्वनि सुनाई पड़ी। यह ध्वनि किसकी है? यह प्रश्न जब मन में उठता है तो यह अवस्था ईहा कहलाती है

अवाय— ईहा द्वारा ग्रहण किए हुए विषय में विशेष का निश्चय हो जाना अवाय है। जैसे- यह निश्चित होना कि ध्वनि अमुक वस्तु या व्यक्ति की है। इसे सम्भावना, विचारणा, जिज्ञासा आदि भी कहते हैं।

धारणा– अवाय द्वारा ग्रहण विषय का दृढ़ हो जाना धारणा है। इसमें दृश्य वस्तु का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है और जीव के अन्तःकरण पर संस्कार पड़ जाता है।

ज्ञान की उपर्युक्त चार अवस्थाओं को इस प्रकार समझा जा सकता है— निद्राग्रस्त व्यक्ति को जब कोई पुकारता है तो निद्रित मनुष्य की श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का संयोग होता है, यह अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह है। तत्पश्चात् उसे ऐसा आभास होता है कि मुझे कोई आवाज दे रहा है, यह अर्थावग्रह है। मुझे कौन आवाज दे रहा है- इस प्रकार का बोध होना ईहा है और मुझे अमुक व्यक्ति आवाज दे रहा है- इस प्रकार दृढ़ निश्चय होना अवाय है तथा उस पुकार को या आवाज को धारण करना धारणा है। अवग्रह, ईहा,अवाय और धारणा-ज्ञानधारा का एक क्रम है, किन्तु मूल है अवग्रह, क्योंकि वह मन-सम्पृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ या वस्तु के सम्पर्क या सामीप्य में होता है। आगे स्थिति बदल जाती है। इन्द्रिय के साथ मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरु होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर वह ईहा, अवाय होते हुए धारणा का रूप धारण करता है। जहाँ तक मन और इन्द्रिय के व्यापार का प्रश्न है तो मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी होता है; किन्तु इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही होता है।

श्रुतज्ञान

श्रुत अर्थात् सुना हुआ। श्रुत शब्द 'श्रु' धातु से निष्पन्न है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आप्तवचनों या प्रामाणिक ग्रन्थों में मिलता है; किन्तु श्रुतज्ञान के पूर्व इन्द्रियज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। केवल मात्र कानों से सुना हुआ शब्द ही श्रुत नहीं होता। आचार्य जिनभद्र के अनुसार वक्ता या श्रोता का वही ज्ञान श्रुत है जो श्रुतानुसारी है। जो ज्ञान श्रुतानुसारी नहीं है, वह मति है। श्रुतानुसारी का अभिप्राय है— शब्द व शास्त्र के अर्थ की परम्परा का अनुसरण करनेवाला।[५७]

नन्दी में मति और श्रुत को अविभाज्य माना गया है। कहा गया है— जहाँ मति होती है वहाँ श्रुत होता है और जहाँ श्रुत होता वहाँ मति होती है। नन्दी की यह मान्यता कई दृष्टियों से प्रमाणित है— (१) नन्दी में अभिनिबोधिक के दो भेद किये गये हैं— श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत इसमें श्रुतनिःसृत ज्ञान उभयात्मक है। इन्द्रियजन्य होने के कारण श्रुत भी है। (२) जैन दर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक जीव में दो ज्ञान होते ही हैं, भले ही वह जीव एकेन्द्रिय हो या पञ्चेन्द्रिय, अतः मति और श्रुत सहचरी हैं। किन्तु आचार्य उमास्वाति का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि श्रुतज्ञान के पूर्व मतिज्ञान को हर दशा में आने के कारण श्रुतज्ञान का मतिज्ञान के साथ नियत सहभाव है। जिस वस्तु का श्रुतज्ञान होता है उसका मतिज्ञान होना निश्चित है; किन्तु इसका विलोम सत्य नहीं है। जिसका मतिज्ञान होता है उसका श्रुतज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी।[५८] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ज्ञान दो प्रकार के होते हैं— अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देखकर आँख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। पानी शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियों को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। 'पानी' शब्द मात्र को सुनकर जान लेना; किन्तु पानी का अर्थ क्या है, पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है— यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ यह पानी द्रव्य है- ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम श्रुतज्ञान, शब्दज्ञान या आगम है। श्रुतज्ञान का पहला अंश है जैसे— शब्द सुना या पढ़ा, यह मतिज्ञान है और दूसरा अंश शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुतज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मतिपूर्वक कहा गया है।[५९] मति और श्रुत दोनों सहचरी हैं, फिर भी दोनों में अन्तर है—मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है, जबकि श्रुतज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीत विद्यमान तथा भविष्य तीनों कालों से सम्बन्धित विषयों में प्रवृत्त होता है। मतिज्ञान पारिणामिक है अर्थात् अपने को रूपान्तरित करता रहता है, जबकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान के पश्चात् आता है और आप्तवचन से उद्बोध होता है, अत: वह मति से शुद्धतर ज्ञान होता है।

अवधिज्ञान

जब जीव विशिष्ट सात्विक साधनों की सहायता से अवधि ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करता है, तब दूर स्थित पदार्थों का भी ज्ञान स्वयं आत्मा की योग्यता के कारण उत्पन्न हो जाता है, यही अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान का प्रथम सोपान है। इसका सम्बन्ध अवधान या प्रणिधान से है। इसकी उत्पत्ति के दो हेतु हैं- भव और क्षयोपशम। वस्तुत: अवधिज्ञान क्षायोपशमिक ही है। भले ही वह ज्ञान देव या नारक का हो अथवा मनुष्य या तिर्यञ्च का। अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम दोनों प्रकारों में आवश्यक है। नन्दीचूर्णि में क्षयोपशम के दो प्रकारों का उल्लेख है- गुणरहित क्षयोपशम और गुण की प्रतिपत्ति से होनेवाला क्षयोपशम। गुणरहित क्षयोपशम के स्पष्टीकरण हेतु चूर्णिकार ने बड़ा ही सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है- आकाश बादलों से आच्छन्न है, बीच में कोई छिद्र रह गया, उस छिद्र में से स्वाभाविक रूप से सूर्य की कोई किरण निकलती है और द्रव्य को प्रकाशित करती है। ठीक इसी प्रकार अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर यथाप्रवृत्त अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है, यही गुण के बिना होने वाला क्षयोपशम है। दूसरे प्रकार में गुण शब्द चारित्र का द्योतक है। अत: चारित्रगुण की विशुद्धि से अवधिज्ञान की उत्पत्ति के योग्य क्षयोपशम होता है। यह गुण प्रतिपत्ति से होनेवाला क्षयोपशम है। इन्हीं दो प्रकारों को भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के नाम से विभूषित किया गया है।

भवप्रत्यय देवों और नारकों को होता है[६०] और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान व्रत, नियम आदि के पालन करने से प्राप्त होता है। यह ज्ञान मनुष्य या तिर्यञ्च को होता है। देव और नारक की भाँति मनुष्यादि के लिए यह ज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है, अपितु व्रत,नियम आदि गुणों के पालन से प्राप्त किया जाता है। गुण प्रत्यय के छ: भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।[६१] अवधिज्ञान का यह विभाजन व्यक्ति के स्वभाव-गुण की दृष्टि से किया गया है। क्षेत्रादि की दृष्टि से इसके तीन विभाजन हैं— देशावधि, परमावधि और सर्वावधि।[६२] षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के तेरह भेद बताये गये हैं- (१) देशावधि, (२) परमावधि, (३) सर्वावधि, (४) हीयमान, (५) वर्धमान, (६) अवस्थित, (७) अनवस्थित, (८) अनुगामी, (९) अननुगामी, (१०) सप्रतिपाति, (११) अप्रतिपाति, (१२) एक क्षेत्र और (१३) अनेक क्षेत्र।[६३] किन्तु देखा जाये तो इन तेरह प्रकारों का समावेश देशावधि, परमावधि और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वावधि में हो जाता है। अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित के साथ प्रतिपाती और अप्रतिपाती ये आठों भेद देशावधि के अन्तर्गत आते हैं। परमावधि में आठ में से छः ही होते हैं, हीयमान और प्रतिपाती नहीं होते। सर्वावधि के अन्तर्गत अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार ही भेद होते हैं।[६४] देशावधि और परमावधि के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं— जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

अनुगामी— अनुगामी अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र में कार्यकारी होता है।

अननुगामी— जो उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना नहीं रहता, वह अननुगामी है।

वर्धमान— जो क्षेत्र, शुद्धि आदि की दृष्टि से उत्पत्ति समय से क्रमशः बढ़ता जाये, वह वर्धमान है।

हीयमान— जो ज्ञान उत्पत्तिकाल में अत्यधिक प्रकाशमान हो; किन्तु बाद में क्रमशः घटता जाय, वह हीयमान अवधिज्ञान है।

अवस्थित— जो न बढ़ता है और न कम होता है, जैसा उत्पत्तिकाल में होता है वैसा ही बना रहता है; किन्तु जन्मान्तर अथवा केवलज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान है।

अनवस्थित— जो कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी प्रकट और तिरोहित होता है उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी अवधिज्ञान के अनेक विकल्प होते हैं। द्रव्य की दृष्टि से परमाणु, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि विकल्पों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। क्षेत्र की दृष्टि से अंगुल का असंख्येय भाग आदि विशिष्ट क्षेत्रों के विकल्पों का ज्ञान होता है। काल की दृष्टि से आवलिका का असंख्येय भाग आदि विशिष्ट कालखण्ड के विकल्पों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार भाव की दृष्टि से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के एक गुणात्मक, द्विगुणात्मक आदि विकल्पों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[६५]

मनःपर्यवज्ञान

सामान्य तौर पर मन के पर्यायों को जानना मनःपर्यवज्ञान है। मनःपर्यवज्ञान के विषय में दो प्रकार की विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं- पहली परम्परा यह मानती है कि मनःपर्यव ज्ञानी चिन्तित अर्थ का प्रत्यक्ष करता है तो दूसरी परम्परा ठीक इसके विपरीत यह मानती है कि मनःपर्यव ज्ञानी मन की विविध अवस्थाओं का प्रत्यक्ष तो करता है, किन्तु उन अवस्थाओं में जो अर्थ रहा हुआ है उसका अनुमान करता है। तात्पर्य है एक परम्परा अर्थ को प्रत्यक्ष मानती है और दूसरी परम्परा मन को प्रत्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो मानती है, किन्तु अर्थ का ज्ञान अनुमान से मानती है।

पं० सुखलाल जी संघवी के शब्दों में- "मनःपर्यायज्ञान का विषय मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएँ हैं- इस विषय में जैन परम्परा में ऐकमत्य नहीं। निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्याओं में पहला पक्ष वर्णित है, जबकि विशेषावश्यकभाष्य में दूसरे पक्ष का समर्थन किया गया है, परन्तु योगभाष्य तथा मज्झिमनिकाय में जो पर चित्त ज्ञान का वर्णन है उसमें केवल दूसरा ही पक्ष है जिसका समर्थन जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है। योगभाष्यकार तथा मज्झिमनिकायकार स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि ऐसे प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के चित्त का ही साक्षात्कार होता है, चित्त के आलम्बन का नहीं। योगभाष्य में तो चित्त के आलम्बन का ग्रहण हो न सकने के पक्ष में दलीलें भी दी गयी हैं।"[६६] पण्डित जी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान मनःपर्यवज्ञान है; किन्तु पण्डित जी द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की की गयी व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि चिन्तन प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाओं का ज्ञान मनःपर्यवज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र की अपनी व्याख्या में उन्होंने लिखा है- चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान है। इस ज्ञान से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती हैं पर चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकती।[६७] पण्डितजी के उपर्युक्त कथन एक-दूसरे के विपरीत प्रतीत होते हैं। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि मनोद्रव्य और मनोवर्गणा के पुद्गलस्कन्ध, मनःपर्यवज्ञान के विषय हैं, जो पौद्गलिक मन का निर्माण करते हैं। मनःपर्यवज्ञानी उन पुद्गल स्कन्धों का ही साक्षात्कार करते हैं। मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तुएँ मनःपर्यवज्ञान के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि चिन्त्यमान वस्तुओं को मन के पौद्गलिक स्कन्धों के आधार पर अनुमान से जाना जाता है। आचार्य हरिभद्र ने भी अपनी वृत्ति में लिखा है— मनःपर्यवज्ञान से मन के पर्यायों अथवा मनोगत भावों का साक्षात्कार किया जाता है। वे पर्याय अथवा भाव चिन्त्यमान विषयवस्तु के आधार पर बनते हैं।[६८] भगवती में मनःपर्यव ज्ञानी की निम्नलिखित अर्हताएं निर्धारित की गयी हैं— ऋद्धि प्राप्त, अप्रमत्त संयत, संयत, सम्यग्दृष्टि, पर्याप्तक, संख्येयवर्षायुष्क, कर्मभूमिज, गर्भावक्रान्तिक मनुष्य और मनुष्य।[६९]

मनःपर्यवज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति, दो प्रकार हैं। जो विषय को सामान्य रूप से जानता है, वह ज्ञान ऋजुमति है। विपुल का अभिप्राय है— अनेक विशेषग्राही। अर्थात् अनेक विशेषताओं से युक्त मनोद्रव्य के ज्ञान को विपुलमति ज्ञान कहते हैं। जैसे— किसी ने घड़े का चिन्तन किया, साथ ही वह घड़ा किस देश, किस काल, किस भाव आदि में बना है, इन विशिष्ट पर्यायों का ज्ञान होना विपुलमति ज्ञान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान

केवलज्ञान ज्ञान की विशुद्धतम अवस्था है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं, क्योंकि मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से कैवल्य प्रकट होता है।[७०] केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही पूर्व के सभी छोटे-बड़े ज्ञान नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कैवल्य के अतिरिक्त बाकी सभी ज्ञान अपूर्ण होते हैं। अत: पूर्णता की प्राप्ति होते ही अपूर्णता समाप्त हो जाती है। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यवज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं इसलिए क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञान ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है इसलिए वह क्षायिक है। क्षायोपशमिक ज्ञान का विषय मूर्त द्रव्य होता है जबकि क्षायिक ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों द्रव्य होता है। नन्दी में कहा भी गया है— जो ज्ञान सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभाव को जानता और देखता है, वह केवलज्ञान है।[७१] नन्दीचूर्णि के अनुसार— जो मूर्त और अमूर्त सभी द्रव्यों को सर्वथा, सर्वत्र और सर्वकाल में जानता और देखता है, वह केवलज्ञान है।[७२] इन सबसे अलग आचार्य कुन्दकुन्द ने केवलज्ञान को परिभाषित किया है। उनके अनुसार व्यवहारनय से केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं तथा निश्चयनय से केवली अपनी आत्मा को जानते और देखते हैं।[७३] जैन दर्शन की यह भी मान्यता है कि किसी भी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान होता है, पर पाँचों ज्ञान किसी में एक साथ नहीं होता। जब एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान ही होता है। आत्मा में जब दो ज्ञान होते हैं तो मति और श्रुत होते हैं, क्योंकि दोनों एक साथ ही रहते हैं। दोनों एक-दूसरे के सहचरी हैं। शेष तीनों ज्ञान एक-दूसरे के बिना हो सकते हैं। आत्मा में जब तीन ज्ञान होते हैं तो मति-श्रुत के साथ अवधि या मनःपर्यवज्ञान होते हैं। केवलज्ञान के साथ अन्य कोई ज्ञान नहीं होता।

केवली के लिए सर्वज्ञ शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। सर्वज्ञ का अर्थ होता है— भूत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाला। सर्वज्ञ शब्द 'सर्व' से बना है। 'सर्व' की व्याख्या प्रत्येक दर्शन अपने-अपने अनुरूप करता है। नैयायिक-वैशेषिक ईश्वरवादी हैं, इसलिए वे ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सर्वज्ञ हो सकता है। इस सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी के इस कथन से यह बात और स्पष्ट हो जाती है— "न्याय-वैशेषिक दर्शन जब सर्वविषयक साक्षात्कार का वर्णन करता है तब वह 'सर्व' शब्द से ी परम्परा में प्रसिद्ध द्रव्य, गुण आदि सातों पदार्थों को सम्पूर्ण भाव से लेता है। स. . . योग जब सर्वविषयक साक्षात्कार करता है तब वह अपनी परम्परा में प्रसिद्ध प्रकृति-पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वों के पूर्ण साक्षात्कार की बात कहता है। बौद्ध दर्शन पञ्चस्कन्धों को सम्पूर्ण भाव से लेता है। वेदान्त दर्शन 'सर्व' शब्द से अपनी परम्परा में पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध एकमात्र पूर्ण ब्रह्म को ही लेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जैन दर्शन भी सर्व शब्द से अपनी परम्परा में प्रसिद्ध सपर्याय षड् द्रव्यों को पूर्णरूपेण लेता है। इस तरह उपर्युक्त सभी दर्शन अपनी परम्परा के अनुसार माने जाने वाले सब पदार्थों को लेकर उनका पूर्ण साक्षात्कार मानते हैं और तद्नुसारी लक्षण भी करते हैं।[७४] सर्वज्ञ सम्बन्धी इस मान्यता में अन्य दर्शनों का जैन दर्शन से मतवैभिन्यता का होना स्वाभाविक है, क्योंकि अन्य दर्शनों में जैनदर्शन की भाँति ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं माना गया है। केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव होने के कारण ही केवलज्ञान मुक्तावस्था में भी विद्यमान रहता है। जैन दर्शन को छोड़कर अन्य किसी दर्शन को ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, स्वीकृत नहीं है। वस्तुत: मतवैभिन्यता का मुख्य कारण यही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में ज्ञानमीमांसा का जितना विशद् विवेचन उपलब्ध होता है उतना शायद ही किसी अन्य दर्शन में हो। जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ज्ञानमीमांसा को प्रमाणमीमांसा से सर्वथा भिन्न रखा गया है। प्राचीन आगमों में प्रमाण की अपेक्षा ज्ञान का ही वर्णन अधिक व्यापकता से किया गया है। पञ्चज्ञान की चर्चा जैन परम्परा में भगवान् महावीर से भी पहले थी, यह राजप्रश्नीयसूत्र से प्रमाणित होता है। इसी प्रकार कर्मशास्त्र में ज्ञानावरणीय कर्म के जो उल्लेख हैं उनसे भी यह फलित होता है कि पञ्चज्ञान की चर्चा भगवान् महावीर से पूर्व की है। इन पञ्चज्ञानों को ही आधार बनाकर उमास्वाति ने मति और श्रुत को परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष माना है।

विस्तार भय से प्रस्तुत निबन्ध को यही विराम देते हैं। यद्यपि ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित अभी ऐसे अनेक पहलू हैं जिसे अभी इसमें समाहित नहीं किया गया है।

पादटिप्पणी

१. **आयारो,** जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९८१, ५/१०४.

२. ज्ञानाद् भिन्नो न चा भिन्नो, भिन्नाभिन्न: कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोयमात्मेति कीर्तित:।। **स्वरूप सम्बोधन,** ३.

३. णाणे पुण णियमं आया। भगवतीसूत्र, १२/१०.

४. **मानविकी पारिभाषिक कोश,** सम्पा०- डॉ० नगेन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९६५, पृ०-७५.

५. वही, ६. वही, ७. वही

८. णाती णाणं- अवबोहमेतं, भावसाधनो। अहवा णज्जइ
अणेणेति नाणं, खयोवसमियखाइएण वा भावेण जीवादिपदत्थ।
णज्जंति इति णाणं, करणसाधणो। अहवा णज्जति एतम्हि त्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णाणं, नाणभावे जीवोत्ति, अधिकरणसाहणो। **नंदीचूर्णि,** पृ०-१३.

९. जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञाप्तिमात्रं वा ज्ञानम्। **सर्वार्थसिद्धि,** भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५; १/१/६/१

१०. एवंभूतनयवक्तव्यतया ..... ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणतात्मैव ज्ञानं दर्शनं च तत्स्वभाव्यात्। **तत्त्वार्थवार्तिक,** भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १/१/५/५.

११. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्। **प्रमाणनयतत्त्वालोक,** श्री तिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर) वि०सं० २०२८; १/२.

१२. अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथं चिदुक्तम्। आत्मगुणघातकघातिकर्म प्रध्वंसनेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानाभ्यां व्यवहारनयेन ..... पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्। ..... ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्व परं च प्रकाशयति; आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिः स्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरूपरागनिरंजनस्वभाव-निरतत्वात्, स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात्। सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधान लक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतः कारणात् एतदात्मगतदर्शन सुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति।

नियमसार, श्रीकुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, बापूनगर जयपुर १९८८; गाथा १५९ (संस्कृत टीका)।

१३. **जैनदर्शन : मनन और मीमांसा,** मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरू १९७३; पृ० ४८१-४८२.

१४. वही, पृ० ४८०.

१५. **नन्दी,** जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं १९९७; टिप्पण, सूत्र-२, पृ० ४९.

१६. The theory of five-fold knowledge, originally belonged to Jainas but the case in different with the theory of Pramāṇa. This latter conception is borrowed by Jainas form other philosophical tradition. The concept of Pramāṇa in Jain Philosophy came into existence in c. 3rd-4th A.D. and continued to develop upto c. 13th A.D. Historical Development of Jaina Philosophy & Religion, *Aspects of Jainology,* Vol. VI, Parshwanath Vidyapitha, I.T.I., Road, Varanasi, 1998, p. 33

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. **प्रवचनसार,** परमश्रुत प्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास १९६४; १/५८-५९.

१८. एवं खलु पएसी! अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते, तंजहा- आभिणिबोहियणाणे सुयणाणे ओहिणाणे मण पज्जवणाणे केवलणाणे। **राजप्रश्नीयसूत्र,** सम्पा०- युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ग्रन्थाङ्क-१५, २४१.

१९. तत्थ णं जे से आभिणिबोहियनाणे से णं ममं अत्थि, तत्थ णं जे से सुयनाणे से वि य ममं अत्थि, तत्थ णं जे से अहिणाणे से वि य ममं अत्थि, तत्थ णं जे से मणपज्जवनाणे से वि य ममं अत्थि, तत्थ णं जे से केवलणाणे से णं ममं नत्थि, से णं अरिहंताणं भगवंताणं। वही

२०. **स्थानांगसूत्र,** सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८१; ५/३/२१८.

२१. **व्याख्याप्रज्ञप्ति,** सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८३; ८/२/२२.

२२. मतिश्रुताऽवधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। **तत्त्वार्थसूत्र,** विवे०- पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९७६; १/९.

२३. **स्थानांगसूत्र,** २/१/८६-१०६.

२४. **व्याख्याप्रज्ञप्ति,** ८/२/२२-२६.

२५. **राजप्रश्नीयसूत्र,** २४१.

२६. **आगमयुग का जैनदर्शन,** पं० दलसुखभाई मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९६६; पृ०-१३०.

२७. **नन्दीसूत्र,** सम्पा०— युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२; पृ०-२४-३०.

२८. **आगमयुग का जैनदर्शन,** पृ०-१२९.

२९. वही

३०. वही, पृ० १३०.

३१. **स्थानांगसूत्र** (मधुकर मुनि) की भूमिका, पृ०-३१-३२.

३२. **आगमयुग का जैनदर्शन,** पृ०-२८.

३३. **भगवई,** सम्पा०- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं १९९४; पृ०-१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे।
केसीकुमार- समणे विज्जा-चरण-पारगे।। **उत्तराध्ययन,** सम्पा०- युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; २३/२

३५. **आगमयुग का जैनदर्शन,** पृ०-१२९.

३६. पंचेव होति णाणा मदिसुदओहिमणं च केवलयं। **गोम्मटसार** (जीवकाण्ड), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी १९४४; १२/३००.

३७. तदपि ज्ञानं द्विविधम प्रत्यक्षं परोक्षमिति। परोक्षं द्विविधिम् मतिः श्रुतमिति। **धवला,** १/१,१,११५

३८. प्रत्यक्षं त्रिविधम्, अवधिज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानं, केवलज्ञानमिति। वही

३९. सामान्यादेकं ज्ञानम् प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा, द्रव्यगुणपर्यायविषयभेदात् विद्यानामादिविकल्पाच्चतुर्धा, मत्यादि भेदात् पञ्चधा। इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्त विकल्पं च भवति ज्ञेयाकार परिणतिभेदात्। **राजवार्तिक,** १/७/१४/१४/२.

४०. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम्। **तत्त्वार्थसूत्र,** १/१३.

४१. **विशेषावश्यकभाष्य,** ३९६.

४२. तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्। **तत्त्वार्थसूत्र,** १/१४.

४३. इन्द्रियैमर्नसा च यथा समर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। **सर्वार्थसिद्धि,** १/९/९३/११.

४४. **नन्दी,** टिप्पण, सूत्र-२, पृ०-५०.

४५. *Studies in Jaina Philosophy,* P.V. Research Institute, Varanasi 1951, p. 30.

४६. 'प्राचीन जैन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विकासक्रम', **जैन विद्या के विविध आयाम,** खण्ड-७, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८, पृ०-९४.

४७. **भगवई,** ८/१०२.

४८. मई तत्थ ण गाहिया। आयारो, १/१२५.

४९. काममइवट्टं। **सूयगडो,** १/४/३३.
वा मई वा उवलंभते। वही, २/२/६०.
होई मई वियक्का। वही, २/६/१९.
तं तु समं मईए। वही, २/६/५१.

५०. मदिणाणं पुण तिविहं उवलद्धी भावणं च उवओगे। **पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति,** प्रक्षेपक गाथा ४३, १/८५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१. **तत्त्वार्थसार,** सम्पा०, पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क-२२, १/१९-२०.

५२. **तत्त्वार्थसूत्र,** पृ०-२४.

५३. व्यञ्जनस्याऽवग्रहः। वही, १/१८.

५४. वही, पृ०-२०.

५५. उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा- अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य। **नन्दीसूत्र,** युवाचार्य मधुकरमुनि, सूत्र-२८, पृ०-१२८.

५६. तंजहा- ओगेण्हणया, उवधारणया, सवणया, अवलंबणया, मेहा, से त्तं उगगहे। वही, सूत्र-५७.

५७. **विशेषावश्यकभाष्य,** भाग-१, गाथा-९९.

५८. श्रुतज्ञानस्य मतिज्ञानेन नियतः सहभावः तत्त्वपूर्वकत्वात्। मस्यश्रुत ज्ञानं तस्य नियतं मति ज्ञानं यस्यतुं मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद्वा न वेति। **तत्त्वार्थसूत्र भाष्य,** १/३१.

५९. **जैन दर्शन : मनन और मीमांसा,** पृ०-४९४-९५.

६०. तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्। **तत्त्वार्थसूत्र,** १/२२.

६१. वही, १/२२.

६२. वही.

६३. **षट्खण्डागम,** पुस्तक-१३, पृ०-२९२.

६४. **तत्त्वार्थवार्तिक**, १/२२/४-५.

६५. दव्वतो बहू विगप्पा परमाणुमादि दव्वविसेसातो। खेतत्तो वि अंगुल असंखेयभागविककप्पादिया। कालतो वि आवलिय अंखेज्जभागादिया। भावतो वि वण्णापज्जवादिया।। **नन्दीचूर्णि,** पृ०-२०.

६६. **ज्ञानबिन्दुप्रकरण,** सम्पा०-पं० सुखलाल संघवी, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, वि०सं० १९९८, पृ०-४१.

६७. **तत्त्वार्थसूत्र,** पृ०-२९.

६८. मनसः पर्याया मनः पर्यायाः धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनादि प्रकारा इत्यनर्थान्तरम् तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। **तत्त्वार्थवृत्ति,** पृष्ठ १९.

६९. **भगवई,** ८/१८३.

७०. **तत्त्वार्थसूत्र,** १०/१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७१. **नन्दीसूत्र** (युवाचार्य मधुकर मुनि), ४३.

७२. एतेदव्वादिया सव्वे सव्वद्धा सत्वत्थ सव्वकालं उवयुत्तो सागाराऽणागार-लक्खणेहिं णाणदंसणेहिं जाणति पासति य। **नन्दीचूर्णि,** पृ०-२८.

७३. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। **नियमसार,** १५९.

७४. **दर्शन और चिन्तन,** पृ०-४२९-४३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुब्रिंग महोदय द्वारा सम्पादित आचाराङ्ग और इसिभासियाइं की भाषा की तुलना

(एक नमूने के तौर पर विश्लेषण)

के॰आर॰ चन्द्र

आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का और ऋषिभाषितानि (इसिभासियाइं) की नयी पद्धति से सुव्यवस्थित सम्पादन प्रो॰ वाल्थर शुब्रिंग[१] के द्वारा किया गया है परन्तु दोनों ही ग्रन्थों के संस्करणों में भाषा सम्बन्धी काफी अन्तर है। आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध श्वेताम्बर जैनों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है और इसिभासियाइं की भी प्राचीन ग्रन्थों में गिनती होती है परन्तु उसकी रचना का समय आचाराङ्ग से परवर्ती काल का माना जाता है। इस दृष्टि से आचाराङ्ग की भाषा इसिभासियाइं की भाषा से पूर्ववर्ती काल की होनी चाहिए थी परन्तु शुब्रिंग महोदय के संस्करणों से ऐसा साबित होता है कि इसिभा॰ की भाषा आचा॰[२] से पुराने स्तर की है। इस तथ्य को प्रकट करने वाले सिर्फ कुछ ही शब्द-प्रयोग यहाँ पर दोनों ग्रन्थों में से नीचे दिये जा रहे हैं जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि शुब्रिंग महोदय के आचाराङ्ग[३] की प्राकृत भाषा बिलकुल महाराष्ट्री प्राकृत है। जबकि इसिभासियाइं की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत से प्राचीन पालि और अशोक के शिलालेखों की भाषा से मिलती जुलती (शब्दों में मिल रहे वर्णों की दृष्टि से) है।

शब्दों की तुलनात्मक तालिका

आचा॰ प्रथम श्रुत-स्कन्ध अध्ययन (उद्देशक और गाथा नं॰)	इसिभा॰ (अध्ययन, पृष्ठ और पंक्ति नं॰)

१. Ācārāṅga-Sūtra, Erster Śrutas Kandha, Leipzig, 1910, Isibhāsiyāiṁ, L.D. Instt. of Indology, Ahmd. 1974.

२. आचा॰=आचाराङ्ग; इसिभा॰=इसिभासियाइं.

३. प्रथम श्रुत-स्कन्ध के मात्र अध्याय नं॰ ९ से ही यहाँ पर शब्द प्रयोग लिए गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यवर्ती - क -

	एकं ३६.८१.१२ एकगुणेणं ८.१५.१०
एगइया २.८	एकन्तं २८.६१.१.
एगत्तरागए १.११	एकन्तगुणा २५.५३.११
एगया २.६; ३.८; ४.३	एकन्तपण्डिता २५.५३.१६
एगेसिं १.८	एकन्तबाला २५.५३.११
वियडं १.१८	विकप्पं २८.६३.१२ विकप्पिओ ९.१७.२५ विकप्पिया २४.४९.१७

मध्यवर्ती - त -

अइवत्तई १.७	- अतिवतित्ता १८.३७.३, इत्यादि अति— (अनेक प्रयोग) अइ — (सिर्फ दो प्रयोग, - अइवयन्ति, अइवात-)
अरइं २.१०	अरति १८.२५.३९
गच्छइ १.७	गच्छति २.५.१; ३.७.२०.
झाइ १.५.६,७	झाति ३८.८५.८
पाणजाइ - १.३	छिन्नजाति - ३.७.१९
—मइ— १.१७	मती ३६.८१.१८
रइं २.१०	अरति १८.३५.२९
विगय - ४.१५	विगत २५.५५.२ इत्यादि
वीइमिस्सेहिं १.६	वीतिवतित्ता २३.४५.१८ इत्यादि वीतीकंता ३.५.१८ (वीयीवयन्ति २१, ४१.५ भी)
सीओदं १.११	सीताहतो ४५.९९.३
- सोयं १.१६	सोतं २९.६३.२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यवर्ती - थ -

अहासुयं १.१	अधासच्चं ३०.६५.१८

मध्यवर्ती - ध -

जहा १.१	जधा ३.७.१० इत्यादि जहा (भी अनेक बार)

मध्यवर्ती - न -

अणुक्कन्तो १.२३, इत्यादि	अनुवत्तन्ती २४.४९.११ अणु- (भी अनेक बार)

दोनों ही ग्रन्थों में से उद्धृत उपरोक्त पाठों से स्पष्ट हो रहा है कि शुब्रिंग महोदय ने आचाराङ्ग की भाषा के शब्दों में आने वाले मूल मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप करके उसे प्राकृत व्याकरण के नियमों के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत में बदल दिया है। शुब्रिंग महोदय ने आचाराङ्ग के सम्पादन में जिन-जिन हस्तप्रतों का उपयोग किया है उनमें मध्यवर्ती व्यञ्जनों का सर्वत्र लोप नहीं मिलना है और शुब्रिंग महोदय से कितने ही वर्ष पहले प्रो० हर्मन याकोबी (१८८२ ए०डी०) के आचाराङ्ग के संस्करण को तथा महावीर जैन विद्यालय, बम्बई के आचाराङ्ग के संस्करण (१९७७ ए०डी०) को देखें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। अत: ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि शुब्रिंग महोदय ने आचाराङ्ग का सम्पादन करते समय उसके रचना के काल और स्थल तथा उसी काल की पालि भाषा तथा अशोक के शिलालेखों की भाषा के स्वरूप का ध्यान नहीं रखा। इसके अतिरिक्त किसी भी प्राकृत वैयाकरण द्वारा अर्धमागधी प्राकृत का व्याकरण स्पष्ट तौर से नहीं लिखने के कारण शुब्रिंग महोदय ने महाराष्ट्री प्राकृत भाषा के नियम ही श्वेताम्बर जैन आगमों के प्राचीनतम ग्रन्थ की अर्धमागधी भाषा पर भी लागू कर दिये। आचाराङ्ग की विविध हस्तप्रतों में एक समान पाठ नहीं मिलने के कारण जहाँ-जहाँ पर भी शब्दों में मूल व्यञ्जन यथावत् पाया गया उनके विषय में उन्हें ऐसा आभास हुआ होगा कि वे शब्द संस्कृत भाषा से प्रभावित हुए हैं अत: उन्हें महाराष्ट्री प्राकृत में बदल दिया गया परन्तु 'इसिभासियाइं' नामक ग्रन्थ की शब्दावली में वे अनेक जगह इस प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सके क्योंकि सम्बन्धित शब्दों के इस प्रकार के पाठान्तर (मध्यवर्ती लोप) ही उपलब्ध नहीं थे।

इस संशोधनात्मक अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिनागमों का भाषा की दृष्टि से पुन: सम्पादन किया जाना अनिवार्य बन गया है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व पच्चीसी

*श्रीमती डॉ० मुन्नी पुष्पा जैन**

पाण्डुलिपि और उसका विषय परिचय

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में संग्रहीत अनेक अप्रकाशित प्राचीन हस्तलिखित लघु पाण्डुलिपियों में से मेरे द्वारा सम्पादित पुरानी हिन्दी के ४ लघु ग्रन्थों का प्रकाशन यहाँ की शोध पत्रिका 'श्रमण' के पिछले अंकों में हुआ है जिनमें अणगार वन्दना (जनवरी-मार्च १९९७), पञ्चेन्द्रिय संवाद (जुलाई-सितम्बर १९९७), मुनिराज वन्दना बत्तीसी (जनवरी-मार्च १९९८) एवं जोगरत्नसार जनवरी-मार्च १९९९ ई० हैं। इसी शृङ्खला में प्राकृतभाषा में रचित 'सम्यक्त्वपच्चीसी' की हस्तलिखित पाण्डुलिपि का सर्वप्रथम सम्पादन और अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है।

प्रस्तुत लघुग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन है, जिसका विवेचन प्राकृत भाषा की इन पच्चीस गाथाओं में निबद्ध है। प्रायः प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में नियत संख्या के अनुरूप किसी एक विषय की पद्यरूप में विवेचन करने की प्राचीन परम्परा अष्टक, पच्चीसी, बत्तीसी, शतक आदि रूप में रही है। प्राचीन रचनाकारों, कवियों आदि ने इष्टदेव की स्तुति, वन्दना, स्तोत्र के साथ-साथ जैनधर्म के विशेष सिद्धान्तों एवं दर्शन को समझने वाले तत्त्वों को भी सुरुचिपूर्वक सारसंक्षेप में काव्यबद्ध किया, ताकि जनसाधारण (श्रावक-श्राविकाएँ) अभीष्ट विषय को सहज रूप में ग्रहण कर सकें और श्रद्धालु उसका नित्य पाठ कर कण्ठस्थ भी कर सकें।

पाण्डुलिपि परिचय

यह पाण्डुलिपि पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ग्रन्थालय में संगृहीत है और मात्र दो पत्रों (चार पृष्ठों) में पूर्ण है। पत्र की लम्बाई १० इंच, चौड़ाई ४.$^{3}/_{4}$ इंच है। दोनों ओर लगभग १.$^{1}/_{2}$ इंच हाशिया है। हाशिये पर 'सम्यक्त्व पच्चीसी सा० प्रकरण' नाम लिखा है। प्रत्येक पत्र के दोनों तरफ सात-सात पंक्तियाँ हैं, जिनमें लगातार गाथायें लिखी गई हैं तथा गाथा की समाप्ति पर उनका क्रमांक (नं०) अंकों में लिखा गया है। अन्तिम

*. अनेकान्त भवनम्, शारदा नगर कालोनी, वाराणसी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२ से २५ गाथाओं के अतिरिक्त शेष सभी गाथाओं में उनके कुछ विशिष्ट शब्दों के टिप्पण पुरानी गुजराती में लिखे गये हैं, परन्तु ये टिप्पण गाथाओं की पंक्तियों के बीचोंबीच छूटी अन्तर वाली बहुत ही संकीर्ण जगह में अतिसूक्ष्म एवं अस्पष्ट अक्षरों में लिखे होने से अत्यन्त कठिनाई से पढ़ने में आते हैं। मैंने इसका उपयोग अनुवाद में किया है। अन्तिम चार गाथाओं के टिप्पण लेखक या लिपिकार ने नहीं दिये हैं। पुरानी गुजराती में लिखित इन टिप्पणों की महत्ता को देखते हुए इन्हें इस लघु ग्रन्थ के साथ संयोजित करते हुए अन्त में गाथाक्रम से प्रस्तुत किया गया है।

गाथाओं वाली प्रत्येक पंक्ति में लगभग १६-१८ शब्द हैं; लिपि अस्पष्ट और वर्ण घने रूप में लिखे गये हैं। 'श्रीपार्श्वनाथाय नमः' लिखने के साथ ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की गई है। पच्चीस गाथाओं के बाद ग्रन्थ समाप्ति सूचक पुष्पिका इस प्रकार मिलती है— इतिश्री सम्यक्त्व पच्चीसी सम्पूर्णम्। लिख्यत्तं जेट्ठी अविगत ३ संवत् १७९६ वर्षे आशो(ज)मासे कृष्णपक्षे तिथौ ७, आदित्यवार (रविवार) अकबराबाद स्थाने लिप्यकृतं।

यहाँ पर संवत्,मास,पक्ष, तिथि,वार,स्थान इत्यादि स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं, परन्तु लेखक का नाम अस्पष्ट है। "लिख्यत्तं जेट्ठी" से यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि सम्यक्त्व पच्चीसी का लेखक अथवा लिपिकार कदाचित् जेट्ठी नामक व्यक्ति रहा होगा।

प्रस्तुत लघु ग्रन्थ में सम्यक्त्व का विवेचन सार संक्षेप में होते हुए भी गूढ़ अर्थों और भेद-प्रभेदों से परिपूर्ण है। इसमें आये समागत सम्यक्त्व के भेद-प्रभेदों की गणना का तथा एक-दो और भी प्रसङ्गों पर दो-तीन गाथाओं का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं हो सका, अतः इसकी पूर्ति की भी विद्वानों से अपेक्षा है।

इस ग्रन्थ की भाषा में विभिन्न प्राकृतों के साथ अपभ्रंश भाषा का प्रभाव भी काफी स्पष्ट है। भाषागत दृष्टि से यह कृति प्राचीन प्रतीत होती है। प्रस्तुत कृति के विषय विवेचन से भी स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के रचनाकार द्रव्यानुयोग के गहन अध्येता थे, जिन्हें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही जैन परम्पराओं के आगमिक ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान था।

प्रतिपाद्य विषय

सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्ति का मूल साधक गुण है। आचार्य उमास्वामी ने मोक्षमार्ग के साधन रूप रत्नत्रय में इसको प्रथम स्थान देते हुए लिखा है- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन की परिभाषा करते हुए कहा है— "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।" तत्त्वों पर अटल श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वानुभूति को सम्यक्त्व कहा है तथा वे कहते हैं— "दंसण भट्ठा भट्ठा दंसण भट्टस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णत्थि णिव्वाणं।'' जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वे वस्तुत: भ्रष्ट ही हैं। **भावपाहुड** में कहा है—

जह तारयाण चंदो, मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहं धम्माणं।।१४२।।

अर्थात् जिस प्रकार ताराओं में चन्द्र और पशुओं में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि और श्रावक दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है। इसी तरह आचार्य समन्तभद्र ने **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में सम्यक्त्व की महत्ता बतलाते हुए लिखा है—

न सम्यक्त्व समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम्।।३४।।

अर्थात् तीन काल और तीन जगत् में जीवों के लिए सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और कुछ भी नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी भी और अन्य नहीं है। **भगवतीआराधना** (गाथा ७३६-७३८) में बताया गया है- जिस प्रकार नगर में द्वार तथा वृक्ष में मूल (जड़) प्रधान है उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य व तप— इन चार आराधनाओं में एक सम्यक्त्व की प्रधानता है। इसी तरह **उत्तराध्ययन** २८.१४-१५, **बृहत्कल्प०** १३४, **प्राकृतपञ्चसंग्रह** १.१५९, **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** १.१.१९३, **धर्मसंग्रहणी** ४.३१-३२ आदि ग्रन्थ भी द्रष्टव्य हैं।

इस तरह विभिन्न आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन की महत्तास्वरूप विस्तृत व्याख्यायें की हैं। यह आत्मविकास का प्रथम सोपान है। श्रद्धा और विशुद्ध परिणामों का उत्तरोत्तर विकास-ह्रास के क्रम की दृष्टि से इसके अनेक भेद-प्रभेद भी आचार्यों ने बतलाये हैं। साथ ही आत्मा के साथ इसकी स्थिति, काल, समय आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है। जैन ग्रन्थों में आत्मविकास के चौदह सोपानों (गुणस्थानों) के साथ सम्यग्दर्शन की स्थिति अर्थात् आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का अनुपम मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

कर्मों और कषायों के जंजाल से छूटने का सम्यग्दर्शन के बिना अन्य कोई उपाय नहीं। अत: इसे प्राप्त करने के लिए, इसकी योग्यतानुकूल गुणों का अपने आपमें विकास करना श्रेयस्कर है। मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग इसकी सुपात्रता की अनिवार्य शर्त है।

वस्तुत: सम्यग्दृष्टि जीव दृढ़ श्रद्धान एवं विवेकवान् और सजग रहने वाला होता है। उसे कोई विचलित नहीं कर सकता, वह जीवन-मरण से भय नहीं खाता। सम्यग्दर्शन को विवेकसूर्य माना गया है, इसके प्रकाश से विपरीत श्रद्धान टिक ही नहीं पाता अत: सम्यग्दर्शन की नींव पर ही मोक्षमहल की सत्ता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति **तत्त्वार्थसूत्र** के प्रथम अध्याय के तीसरे सूत्र के अनुसार दो प्रकार की बतलायी गयी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' अर्थात् प्रथम निसर्ग (स्वाभाविक रूप से अथवा बिना किसी बाह्य निमित्त के) दूसरा अधिगमज अर्थात् दूसरे के उपदेश आदि के निमित्त से। यद्यपि सम्यग्दर्शन के अनेक भेद-प्रभेद हैं; किन्तु भावों की दृष्टि से इसके मुख्यत: तीन भेद बतलाये गये हैं— १. औपशमिक, २. क्षायोपशमिक, ३. क्षायिक।

(१) मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व एवं अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ- इन सात प्रकृतियों के उपशम (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति प्रकट न होना उपशम है, इस) से होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक सम्यग्दर्शन है। (२) पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से सम्यक्त्व को छोड़कर शेष छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय में आने वाले निषेकों (एक समय में जितने कर्म परमाणु उदय में आवें, उन सबका समूह निषेक कहलाता है) का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय में होने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम एवं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में रहने से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है तथा (३) सात प्रकृतियों के समूल क्षय (विनाश) से जो सम्यक्त्व होता है, वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

वस्तुत: जैसे-जैसे जीव के परिणाम विशुद्ध होते हैं और वह गुणस्थानक्रम से ऊपर उठता जाता है, उसी क्रम से कर्मपिण्ड आत्मप्रदेशों को छोड़कर अलग होते जाते हैं। कर्मपिण्ड की आत्यन्तिकी निवृत्ति को क्षय कहते हैं। जिस-जिस गुणस्थान में जिस-जिस प्रकृति का क्षय हो जाता है, वह प्रकृति पुन: कभी बन्ध को प्राप्त कर सत्त्व रूप नहीं हो सकती। सबसे पहले चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम अर्थात् क्रमश: अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत-गुणस्थानवर्ती जीव अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण द्वारा चार अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय (नाश) करता है। ये ही तीन करण पुन: करके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्वप्रकृति का क्षय करता है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति में क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण— इन पाँच लब्धियों में करणलब्धि की विशेष चर्चा होती है, क्योंकि चार लब्धियाँ तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य-अभव्य दोनों को होती हैं; किन्तु करणलब्धि केवल भव्य जीव को ही सम्यक्त्व अथवा चारित्र ग्रहणकाल में होती है, जो क्रमश: अध:, अपूर्व, अनिवृत्ति तीन प्रकार से होती है।

आत्मा जब सात प्रकृतियों की सत्ता व्युच्छित्ति (निर्जरा) करके क्षायिक-सम्यग्दृष्टि बन जाता है, तब वह अधिक से अधिक चार भव तक संसार में रह सकता है। इसके बाद नियम से मुक्त हो जाता है। जिस समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने के सम्मुख होता है, तब अन्तर्मुहूर्तकाल में अधःकरण परिणामों (सप्तम गुणस्थान) से अपूर्वकरण परिणामों (आठवें गुणस्थान) को प्राप्त कर लेता है और प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षण में कर्मप्रदेशों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता हुआ अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान को प्राप्त होता है।

जैन परम्परा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव— ये पञ्चपरावर्तन माने गये हैं। द्रव्य परावर्तन को पुद्गल परावर्तन भी कहते हैं। पुद्गल परावर्तन के आधे काल को अर्धपुद्गल-परावर्तन कहते हैं। यह जीव संसार में मिथ्यात्व परिणाम से अनन्त बार अनन्त परावर्तन करता है। जब इसका अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल बाकी रह जाता है तब ज्ञानी जानता है कि इसकी काललब्धि आ गयी है अर्थात् इसकी योग्यता सम्यक्त्व के उत्पन्न होने की हो गई है। जिस जीव को सम्यक्त्व हो जाता है, वह अन्तर्मुहूर्त से लेकर अर्धपुद्गल परावर्तन काल के भीतर किसी भी समय में अवश्य मुक्त हो जाता है।

वस्तुत: जीव को इन पञ्चपरावर्तन के चक्कर में फँसकर अनन्तबार जन्म-मरण को प्राप्त होना पड़ता है; किन्तु जिस जीव से मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ- इन सात प्रकृतियों का विनाश हो जाता है, अर्थात् जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व का प्रकाश हो गया, वे ही जीव इस पञ्चपरावर्तनों के भ्रमण से मुक्त हो पाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में संक्षेप में सम्यक्त्व का जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, वह दिगम्बर एवं श्वेताम्बर- दोनों ही परम्पराओं के एतद्विषयक अनेक सैद्धान्तिक आगम और आगमोत्तर अन्य ग्रन्थों में विस्तार से देखने को मिलता है। अत: विशेष विवेचन एवं भेद-प्रभेदों की व्याख्या उन ग्रन्थों में देखी जा सकती है।

प्रस्तुत भूमिका के लेखन और इस लघु ग्रन्थ के सम्पादन में मुझे विभिन्न ग्रन्थों, लेखों व शब्दकोशों से असीम सहायता प्राप्त हुई है जिनके लेखकों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

सम्पादिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

।।सम्यक्त्व पच्चीसी।।

'श्री पार्श्वनाथाय नमः'

जह सम्मत्त[1] सरूवं, परूवियं वीर-जिण-वरिंदेण।
तह कित्तणेण तमहा[2], थुणामि सम्मत्तं[3] सुद्धि कए।।१।।

जिस प्रकार जिनवर महावीर ने सम्यक्त्व का स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसी प्रकार उसका शुद्ध रूप कथन करने के लिए मैं उनकी कीर्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ।

सामी अणाई अणंते, चउगई संसार घोर कंतारे।
मोहाई कम्म गुरुविई, विवाग[4] वसउ भमइ जीवो।।२।।

हे स्वामी (भगवान्)! यह जीव (आत्मा) अनादि अनन्तकाल से चतुर्गतिमयी संसाररूप घने (दुर्गम) जंगल में मोहादिक कर्म के भार से सुख-दुःख रूप कर्मविपाक के आधीन हो, भ्रमण कर रहा है।

पल्लोवलंमाइ अहा पवत्तकरणेण को विजई कुणइ।
पलिया संख भागूण, कोडाकोडी अयर विईसेसं।।३।।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन एक-एक क्रम से स्थिति एक पल्यहीन अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागरोपम स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक बांधता है- ऐसे अन्तर्मुहूर्तकाल का अधःप्रवृत्तकरण कौन पार (विजयी) कर पाता है? अर्थात् विरले ही।

तत्थ वि गंठी घण राग दोस, परिणयमई अभिदंतो।
गंठीय जीवो विह हा, न लहई तुह दंसण नाह।।४।।

अहो! आश्चर्य है कि यह जीव महावज्र के समान राग-द्वेषरूपी घनी (दृढ़) ग्रन्थि को नहीं भेदता है (अर्थात् समाप्त नहीं करता है)। इसलिए हे नाथ! वह आपके बताये दर्शन (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त नहीं कर पाता है।

पहिय पिपीलिभ्य नाएणं, को विपज्जत सन्निपंचिदीर।
भव्वो अवट्ट-पुग्गल, परियट्ट उ सेस संसारे।।५।।

जैसे कोई पथिक (राही) रास्ता भूलकर चींटी की तरह घूमता रहता है। उसी

---

१. समत्त, २. तमहा, ३. समत्तं — ये शब्द मूल पाण्डुलिपि में हैं।
४. विवाग-सुख-दुःखादि भोग रूप कर्मफल, कर्मफल का अनुचिंतन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर अर्ध-पुद्गल परावर्तनकालपर्यन्त शेष संसार में घूमता रहता है।

करणलब्धि—

अपुव्वकरण मुग्गर,घाय विहिय दुट्ठ गंठी भेउसो।
अंतमुहुत्तेण गउ, अनिविट्टिकरणे विसुझंतो।।६।।

भव्य जीव अपूर्वकरणरूपी मुद्गर से घातियाँ कर्मों की दुष्ट ग्रन्थि का भेदन कर अन्तर्मुहूर्त में ही अनिवृत्तिकरण द्वारा परिणामों की निर्मलता को प्राप्त करता है।

सो तत्थ करणे सुहउव्व, वरिजय जणिय परम आणंदं।
सम्मत्त लहइ जीउ, सामन्नेणं तुहप्पसाया।।७।।

हे भगवान्! आपके प्रसाद से आपकी आज्ञानुसार आचरण (चारित्र का पालन) करने पर जीव कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्तकर परम आनन्द को पाता है तथा सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व के भेद—

तं चेगविहं दुविहं तिविहं तह चउव्विहं च पंच विहं।
तत्थेगविहं जं तुह पणीय भावेसु तत्त रुई।।८।।

वह (सम्यक्त्व) एक, दो, तीन, चार एवं पाँच प्रकार का है। इनमें से सम्यक्त्व सामान्य से एक है, जिसमें आपके (जिनेन्द्रदेव) द्वारा प्रणीत तत्त्वों (पदार्थों) में जिस-जिस रूप से रुचि (श्रद्धान) होती है, वह उतने प्रकार है।

सम्यक्त्व के दो भेद—

दुविहं तु दव्व भावाउ, निच्छय-व्यवहारउ य अहवादि।
निस्सग्गुवएसाउ, तुह वयण विउहि निद्दिट्ठं।।९।।

हे भगवान्! आपके कथनानुसार विद्वानों ने सम्यक्त्व के दो भेद निर्दिष्ट किये हैं— द्रव्य सम्यक्त्व एवं भाव सम्यक्त्व अथवा निश्चय और व्यवहार रूप सम्यक्त्व अथवा निसर्ग एवं (पर) उपदेश

द्रव्य एवं भाव सम्यक्त्व—

तुह वयणे तत्तरुई, परमत्थमजाणओ वि दव्व गयं।
सम्मभाव गय पुण, परमत्थ वियाणउ होई।।१०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमार्थ को न जानते हुए भी आपके वचनों में तत्त्व रुचि होना द्रव्यगत सम्यक्त्व है और (तत्त्वरुचि रखते हुए) परमार्थ को जानना भावगत सम्यक्त्व है।

निश्चय एवं व्यवहार सम्यक्त्व—

निच्छयउ सम्मत्तं, नाणाइमय सुहपरिणामो।
ईयर पुण तुह समए, भणियं समत्त हेऊहिं।।११।।

निश्चय सम्यक्त्व ज्ञानादि से युक्त शुभ परिणाम है (अत: उपादेय है) और इससे इतर अर्थात् दूसरा व्यवहार सम्यक्त्व हेय (त्यागने योग्य) बताया है।

निसर्ग एवम् उपदेश सम्यक्त्व—

जल वत्थ मग्गऊ इव जराइ नाएहिं जेण पण्णत्तं।
निसग्गुवएस भवं सम्मत्तं तस तुज्झ नमो।।१२।।

जैसे जल वस्त्र से (छानकर आदि प्रयत्नों से), मार्ग (जमीन, रास्ता) गोबरादि के लीपने से तथा रोगादि का औषधि के निमित्त से शमन होता है। वैसे ही निसर्ग (स्वाभाविक) तथा दूसरा परोपदेश (अधिगमज) से होने वाला सम्यक्त्व है। हे सम्यक्त्व! तुम्हें नमस्कार है।

सम्यक्त्व के तीन भेद—

तिविहं कारग रोयग, दीवग, भेएहिं तुह मय विऊहिं।
खाउवसमोवसमिय, खाईय भेए वा कहियं।।१३।।

वह सम्यक्त्व कारक, रोचक,दीपक- भेद से तीन प्रकार का अथवा इसे क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक तरह तीन भेद रूप से तीन प्रकार का विद्वानों ने कहा है।[५]

कारक और रोचक सम्यक्त्व का लक्षण—

जं जह भणियं तु मए, तं तुह करणेमि कारगं होई।
रोयग सम्मत्तं पुण रुई मित्तकरं तु तुह धम्मे।।१४।।

मैंने सम्यक्त्व के जो तीन भेद कहे हैं उनमें करण रूप से कारक सम्यक्त्व होता है। पुन: धर्म तत्त्व में भलीभाँति रुचि और मित्रता का भाव करने वाला रोचक सम्यक्त्व कहलाता है।

---

५. विस्तार के लिए देखिए — **विशेषावश्यकभाष्य,** गाथा २६७५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपक सम्यक्त्व का लक्षण—

सयमिह मिच्छादिट्ठि धम्म कहाहिं दीवई परस्स।
दीवग समत्तमिणं, भणंति तुह समयं निउणो।।१५।।

इस सम्यक्त्व में मिथ्यादृष्टि जीव भी धर्मकथादि के द्वारा स्वयं को तथा दूसरों को प्रकाशित करने का प्रयत्न व अभ्यास करता है (ताकि मिथ्यात्व से छूट सके)। ऐसे सम्यक्त्व को शास्त्रों के ज्ञाता पण्डितों ने दीपक सम्यक्त्व कहा है।

अपुव्वकरण तिपुंजो, मिच्छमुईन्नं खवितु अणुईन्नं।
उवसमियानियट्टीकरण उपरं खउवसमीयं।।१६।।

अपूर्वकरण के तीन पुंज हैं- मिथ्यात्व, सम्यक्त्व एवं मिश्र। मिथ्यात्व के पुनः उदय में आते ही उसका क्षय करने से उपशम सम्यक्त्व और उपशम सम्यक्त्व से अनिवृत्तिकरण होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

अकय तिपुंजो, ऊसर-देवईलिय दढ रुखु नाएहिं।
अंतरकरणुवसमिउ, उवसमिउवास सेणि गउ।।१७।।

जिस तरह तीन अकृत-पुंज होते हैं अर्थात् ऊसर भूमि, जला हुआ वृक्ष तथा जंगल की अग्नि— इन तीनों में कोई कार्य आगे नहीं किया जा सकता। उसी तरह उपशम श्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव अन्तःकरण (परिणाम) की विशुद्धता को प्राप्त कर लेता है।

क्षायिक सम्यक्त्व—

मिच्छाइ खए खईउ सो, सत्तग खीणिवाई बन्धा ज।
चउ ति भव भावि मुक्को, तज्झव सिद्धीय ईय रोय।।१८।।

मिथ्यात्व का क्षय करने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। सात प्रकार की प्रकृतियों के क्षय से तद्भव में बन्धन से मुक्त होकर जीव सिद्धि को प्राप्त होता है अथवा (सम्यग्दर्शनपूर्वक आयु बंध किया है तो भी) चार या तीन भव के बाद वह नियम से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

चउहा उ सासाणं गुडाईव मणुव्व माल पडणुंव्व।
उवसमिया पडंतो, सासाणो मिच्छमणपत्ता।।१९।।

जीव को चार प्रकार (अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ— इन चार कषायों) से सासादन (द्वितीय गुणस्थान) होता है। मीठी वस्तु के वमन और मालारोहण (सीढ़ी से गिरने की स्थिति) की तरह सासादन वाला जीव उपशम श्रेणी से गिरकर मिथ्यात्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त होता है।

वेयग जुई पंच विहं, तं तु हु पुंजर कइं मिच्छई यस्स।
खयकाल चरम समए, सुद्धाणुय वेयणे वेयगो होई।।२०।।

वेदक सम्यक्त्व के पाँच भेदों में मिथ्यात्व मोहनीय वा मिश्रमोहनीय रूप द्विपुंज के क्षयकाल के चरम समय में उपशम से सम्यक्त्व प्रकृति का शुद्ध वेदन रूप वेदक सम्यक्त्व होता है।

अंतमुहुत्तोवसमो, छावलि सासाणु वेयगो समउ।[६]
साहि य तेत्तीसायर, खईउ दुगुणो खउसमो।।२१।।

उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। सासादन सम्यक्त्व की छह आवली की, वेदक सम्यक्त्व की स्थिति एक समय की, क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति तैतीस सागर की तथा क्षायोपशमिक की स्थिति द्विगुणित अर्थात् छयासठ सागर होती है।

उक्कोसं सासायण, उवसिया हुंति पंच वारा उ।
वेयग खाइग इक्कंमि, असंख्य वारा उ खउवसमो।।२२।।

सासादन अधिक बार होता है, उपशम सम्यक्त्व पांच बार आता है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्य बार आ सकता है, किन्तु वेदक, क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति एक बार ही होती है। अर्थात् पुनः वापिसी नहीं होती।

बीय गुणे सासाणो, तुरिया सु अट्ठगार चउ च वसु।
उवसम खयग वेयग, खाउवसमीक मा हुंति।।२३।।

इस गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका। फिर भी यह कहा जा सकता है कि सासादन गुणस्थान में तीर्थङ्कर, आहारक की चौकड़ी, भुज्यमान व बद्धमान आयु के अतिरिक्त कोई भी दो आयु से सात प्रकृतियाँ छोड़कर १४१ का सत्त्व है, परन्तु कोई आचार्य इनमें से आहारक की चार प्रकृतियों को छोड़कर केवल तीन प्रकृतियां कम १४५ का सत्त्व मानते हैं। आचार्यश्री कनकनन्दी के सम्प्रदाय में उपशम श्रेणी वाले चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी चार का सत्त्व नहीं है। इस कारण २४ स्थानों में से बद्ध व अबद्धायु के आठ स्थान कम कर देने पर १६ स्थान ही हैं और क्षपक अपूर्वकरण वाले पहले आठ कषायों का क्षय करके पीछे १६ आदिक प्रकृतियों का क्षय करते हैं। कोई आचार्य अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मायारहित चार स्थान हैं, ऐसा मानते हैं तथा कोई स्थानों

---

६. काल के सबसे सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवली होती है। छह आवली काल एक मिनिट से भी छोटा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भंग का प्रमाण कहते हैं। (**गोम्मटसार**, कर्मकाण्ड ३७३, ३९१, ३९२। (-प्रधान सम्पादक)

ति सुद्धि, लिंग ३, लक्खण ५, दूषण ५, भूषण ५, पभावगा ८ गागा ६। सद्दहण ४, जयण ६, भावण ६, ठाण ६, विणय १०, गुरुई गुणी ईयं।।२४।।

तीन शुद्धि, तीन लिंग, पाँच लक्षण, पाँच दोष, पांच भूषण, आठ प्रभावना, छः आगार, चार श्रद्धान, छह यतन, छह भावना, छह स्थान, दस विनय— इस तरह सम्यक्त्व के गुण हैं।[७]

वित्थारं तुह समए सया, सरताण भव्व जीवाणं।
सामी य तुहप्पसाया, हवेउ सम्मत्त संपत्ती।।२५।।

हे स्वामी! आपके (कहे अनुसार) शास्त्रों में जो सम्यक्त्व का विस्तार है, वह भव्य जीवों का कल्याण करने वाला है। अतः हे प्रभु! आपके प्रसाद (कृपा, आशीर्वाद) से सम्यक्त्व रूपी सम्पत्ति हमारे पास हो। अर्थात् मुझे ऐसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो।

'इति श्री सम्यक्त्व पच्चीसी संपूर्णम् लिख्यतं जेट्ठी, अविगत ३, संवत् १७९६ वर्षे आशो(ज) मासे, कृष्ण पक्षे, तिथौ ३, आदितवारे (रविवार) अकबराबाद स्थाने लिप्यकृत।। ।।

गुजराती टिप्पणी

१. जिम सम्यकत्वनउ सरूप परूप्पउ श्री महावीर देवइ ताम कहिस्यउ तेहनइ स्तुत करस्पुंस सम्यकत्व सुद्धिनइ कातइ।

२. हे भगवान्। अनाद्य आद्यनद्यी अंतपुण नव्दी, च्यार गति संसार रूप अटवी नइ विषइ, मोहादिक कर्म कर्मनी मोटी थिति छइ, विपाक कर्मनइ वसइ भ्रमइ आत्मा।

३. पल्लनइ असंख्यातभइ भग्गउण इक्कइ, कोडाकोडी सागरोपम स्थितिना माहि थी।

४. तिहा गोविघ महावज्र भारी राग द्वेष रूपणी गांठि ना परिणाम अणभेदत गांठि जीव नइ वो हा हा अहो आचर्य।।

५. पंथी नइ दृष्टांतइ जिम पंथी पथे भूलो थकउ वली मार्ग्र या मइवली भूलइ, तव कीडीने ना ल्याइ, कोई जीव व्रजाप्ता सभी पंचेन्द्री भव्य जीव अर्द्धपुदगली प्रावर्तन से सेस संसार माहि तेह वा कर्मनइ।

---

७. विस्तार के लिए देखिए, आचार्य हरिभद्रसूरि कृत **सम्यक्त्वसप्तति** नामक ग्रन्थ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अपूर्वकर्ण मुद्गरइ करी घातैं टालें अनेक प्रकारइ, गाढ़ा दुष्ट ग्रंथि (ग्रांठि) भेदइ, भव्य अंत्तर्मुहुर्त माहि जाइ अनिवृत्तककरण परिणाम रूपइ निर्मल करइ।।

७. ते तिहां कव्कर्णाइ करी सु भरनी परइ कर्म रूपीया वैरीनइ जीतीनइ परम आनन्द पामइ तिम सम्यकत्व पामइ जीवे चारित्रवतु प्रसादइ करी।

८. ते सम्यक्त्व एक विधइ, वि विधइ, तिन विधइ, च्यार विधइ, पाँच विधइ। तिहा एक विध जे-जे परूप्पा भावने विषइ रुचिवंता ते विधइ।

९. दो विधि ते द्रव्य-भाव्य, निश्चइ-व्यवहार अथवा निसर्ग उपदेश तुम्हारा वचन पंडितौइ निच्छ कहु।

१०. तुम्हारा वचन नइ विषइ, त्वनि रुचि पणि, परमार्थ ज्ञान नअ जाण, ए द्रव्य गति सम्यक्त्व कहीयइ भावगत सम्यक्त्व तेस्युः परमार्थन तु जालभ हुइ।

११. निश्चय सम्यक्त्व ज्ञानादिक ३ भला परिणाम व्यवहार वली तुम्हारा सम्यकत्व कही समकते हे तन्याइ करी।

१२. पाणी एक निरमली घाली निर्मल करइ तथा स्वभावइ निर्मलं थाइ तथा वस्त्र मार्गेन गुंबडो गोमूत्रादि लेपें सुद्ध घाई तथा स्वभावइ जसु छु घाई रोगादि स्वभावइ उपत्रमइ तथा औषधादिकऽ उपसमइ जे परुप्पउ, स्वभावइ उपदेशइ। हे सम्यक्त्व, तुझनइ नमुः।

१३. ते सम्यक्त्व त्रिविधैः कारक, रोचक, दीपक, णाणे भेदें तुम्हारा मतनइ विषइ पंडित कहइ तथा तीन भेदते खायोपशम, उपशम, खाइक- ये ३ भेदइ कह्यउ।

१४. जे जिम कहु तुम्हारइ मतइ ते तिमज करइ ते कारक सम्यकत्व कहीयइ। रोचक सम्यक्त्व भाले रुच मात्र करें तुम्हारा धर्म माहि।

१५. स्वमेव मिथ्यादृष्टि धर्म कथादि दीपावें अनेरानइ, अगाभमर्दनाचार्य वयु दीपक समकत कहीयइ ए कहइ तुम्हारा शास्त्रवेइ विषैं चतुरः।

१६. अपूर्वकर्ण पुञ्ज कीथी त्राणि पुंज जेणइ— मिथ्यात्व पुंज, मिश्रपुंज, सम्यकत्वपुंज। मिथ्यात्व पुनः उदय आवाउ ते खपावी। उदय अणाव्युं उपशमावी अनिवृत्तकरण थकी परहूं उपरांति क्षयोपशम सम्यक्त्व हुइ।

१७. अणकीधइ त्रिणपुंजें- ऊसर खेत्रइ, दावानल ईयभगार तथा दाधा रूपनइ ना दृष्टांतइ अंतरकरणइ करी उपशमिक सम्यकत्व अथवा उपशमश्रेणि चढ्या हुइं उपशम सम्यकत्व।

१८. मिथ्यात्वनइ खयइ क्षायक सम्यक्त्व ते सात प्रकृतिनइ क्षयइ हुइ, निकाचित आउ खानैं बधइ अनन्तानबंधी ४, मोहनीय च्यार आउरनउ बंध न हुइ। तेह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्ति जाइ।

१९. चहु प्रकारइ घाइ स्वासादन गणता ते स्वासादन केहबू गुडादि मीठी वस्तुनो विमन तथा माला ऊँचां वामथी पडवउ, जिम तिम उपशम श्रेणी थकी पडतउ स्वासादन सम्यक्त्व हुइ मिथ्यात्व अयामतु।

२०. पंच प्रकारंत तु वेदक सम्यक्त्वं मिथ्यात्व मिश्ररूप द्विपुंज क्षये तृतीय सम्यकत्यस्य क्षयकाल चरम समए सुद्धाणु वेदन रूपं वेदकं भवति।

२१. अंतर्मुहुर्त ऊपसम सम्यक्त्व छह आवलिका उप्पा उपसम समकति हुइ छह आवली स्वासादन समकति हुइ। एक समउ वेदक हुइ, तेत्ती ३३ सागर का फेरा, क्षाइक छासट्ठि ६६ सागर का फेरा खउ खउपसमय होई वेदक हुइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभारत और जिनसेन के आदिपुराण में शिव तत्त्व

*डॉ० पुष्पलता जैन**

महाभारत कदाचित् प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थ है जिसमें भगवान् शिव का समुचित और विकसित रूप का वर्णन मिलता है। महाभारत के पूर्व रामायण में शिव के नाम से कोई विशेष उल्लेख नहीं दिखाई देता। इससे इतना तो निश्चित रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि शिव जैसे अवैदिक देवता महाभारतकाल तक आते-आते लोकप्रिय हो गये।

यहाँ प्रश्न उठता है, यदि शिव अवैदिक देवता रहे हैं तो उनका पूर्व रूप क्या था जिसने उन्हें 'शिव' रूप तक पहुँचाया। इसकी मीमांसा करने पर यह तथ्य सामने आता है कि शिव का पूर्वरूप जैनधर्म के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव या वृषभदेव होना चाहिए। इस तथ्य के प्रमाण के रूप में आचार्य जिनसेन का आदिपुराण प्रस्तुत किया जा सकता है।

महाभारत के अनुशासनपर्व का सत्रहवाँ अध्याय इस सन्दर्भ में विशेष द्रष्टव्य है। इसके पूर्व यहाँ भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण और उपमन्यु के बीच हुए (सोलहवें अध्याय में) संवाद का स्मरण कराना चाहूँगी जिसमें उपमन्यु ने तण्डि नामक सत्ययुगी ऋषि का उल्लेख किया जिसने दस हजार वर्ष तक शिव की आराधना की और परम फल प्राप्त किया। तण्डि ने भगवान् शिव की स्तुति करते हुए कहा कि ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वदेव और महर्षि भी आपको यथार्थ रूप से नहीं जानते। इससे भगवान् शिव बहुत सन्तुष्ट हुए और बोले, हे ब्रह्मन्! तुम अक्षय, अविकारी, दुःखरहित, यशस्वी, तेजस्वी एवं दिव्यज्ञान से सम्पन्न होओगे। यह कहकर वर मांगने का आदेश दिया। तण्डि ने उत्तर में मात्र इतना कहा कि प्रभो! आपके चरणारविन्द में मेरी सुदृढ़ भक्ति बनी रहे।

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः।।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव, भविता दुःखवर्जितः।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः।।

---

*. अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस०एफ०एस०कालेज, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव।
मत्प्रसादाद्द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः।।
कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद्वत्स काङ्क्षसे।
प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे।।

— अनुशासनपर्व, १६वां अध्याय, श्लोक ६७-७०

आगे के श्लोकों में उपमन्यु ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि महर्षि तण्डि द्वारा प्रवेदित दस सहस्र नामों का भक्तिपूर्वक स्मरण-अनुस्मरण बड़ा सिद्धिदायक होता है।

सत्रहवें अध्याय में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को वेद-वेदाङ्ग से प्रगट हुए इन नामों की स्तुति करने का आवाहन किया और उसी के फलस्वरूप हजार नाम वाले शिवस्तोत्र की प्रस्तुति इस अध्याय में हुई। इसे यहां "प्रवदं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम्" कहा है।

इस उल्लेख से निम्न तथ्य सामने आते हैं—

१. शिवस्तोत्र वेद-वेदाङ्ग में आये नामों पर आधारित है।

२. तण्डि ऋषि तत्त्वदर्शी थे।

३. यह शिवस्तोत्र प्रथम शिवस्तोत्र है।

४. यह स्तोत्र सकल प्राणियों के लिये हितकारी है।

५. इससे भक्ति तत्त्व की प्रस्थापना हुई।

इन तत्त्वों के आधार को जब हम जैन साहित्य में खोजने का प्रयत्न करते हैं तो आचार्य जिनसेन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। वे कर्नाटकवासी प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य रहे। मूलतः वे ब्राह्मण कुलोत्पन्न वेद-वेदाङ्ग के गहन अभ्यासी विद्वान् थे। जैनधर्म में दीक्षित होने के बाद स्वभावतः उनके चिन्तन और लेखन में पूर्व अध्ययन और संस्कार जागृत रहे जो परिष्कृत और परिनिष्ठित होकर जैनधर्म पर प्रभावी हुए। इसी प्रभाव के कारण जैनधर्म काफी सीमा तक वैदिक साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हुआ। उनका संस्कृत में लिखा आदिपुराण इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने इसकी रचना नवमीं शती के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रकूट काल में वाटग्राम में की। यह वाटग्राम सम्भवतः कांची होना चाहिए, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में तीर्थङ्कर ऋषभदेव के चरित्र का विस्तार से पच्चीस पर्वों में वर्णन किया है। इसमें ऋषभदेव का सारा इतिवृत्त और उनके द्वारा प्रवेदित जैनधर्म का जो प्रारूप उपलब्ध होता है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदों में उपलब्ध वातरशनाः, दिग्वासः, वातवल्कलाः आदि जैसे शब्द मूलतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थङ्कर ऋषभदेव से सम्बद्ध रहे हैं। इस सन्दर्भ में आदिपुराण का द्वितीय पर्व उल्लेखनीय है—

इमे तपोधना दीप्ततपसो वातवल्कलाः।
भवत्पादप्रसादेन मोक्षमार्गमुपासते।।१८।।
मुनयो वातरशनाः पदमूर्ध्वं विधित्सवः।
त्वां मूर्धवन्दिनो भूत्वा तदुपायमुपासते।।६४।।

इस प्रकार के शताधिक शब्द आदिपुराण में मिलते हैं जो शिव और ऋषभदेव के लिए समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से महाभारत के अनुशासनपर्व के सत्रहवें अध्याय में आये शिवस्तोत्र तथा आदिपुराण के पच्चीसवें पर्व में आये जिनसहस्रनाम का उल्लेख किया जाना नितान्त आवश्यक है। यह जिनसहस्रनामस्तोत्र जिनसेन ने इन्द्र द्वारा की गयी स्तुति के रूप में प्रस्तुत किया है।

जैसा हम जानते हैं, वैदिक साहित्य में विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, गणेशसहस्रनाम, अम्बिकासहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम आदि अनेक सहस्रनाम उपलब्ध होते हैं। उनमें कदाचित् प्राचीनतम सहस्रनाम महाभारत में वर्णित शिवसहस्रनाम होना चाहिए। आचार्य जिनसेन का सहस्रनाम इसी सहस्रनाम से प्रभावित दिखाई देता है। अन्तर यह है कि शिवसहस्रनाम में दिये १००८ नामों के साथ कोई विशेष तर्क नहीं है। मात्र यही है कि ये नाम भगवान् शिव को अधिक प्रिय हैं (श्लोक १७-३५), जबकि जिनसेन ने इन नामों के पीछे जो तर्क दिया है वह अधिक सबल और युक्तिसंगत है। उन्होंने कहा है कि महापुरुष के लक्षण १००८ माने गये हैं और ये लक्षण आप परमात्मा में दिखाई देते हैं इसलिए मैंने ये शब्द चुने हैं (आदिपुराण का २५वां पर्व, श्लोक ९८-९९)।

आदिपुराण में आये इन १००८ नामों में से मैं यहाँ बानगी के रूप में कतिपय नाम प्रस्तुत हैं। उदाहरणतः मृत्युञ्जय, त्रिपुरारि, स्वयम्भू, त्रिनेत्र, अर्धनारीश्वर, शिव, शङ्कर, सम्भव, वृषभ, नाभेय, ईश्वर, अयोनि, परमतत्त्व, परमयोगी, अजर, विश्वभू, विश्वयोनि, जिनेश्वर, अनीश्वर, परमेष्ठी, योगीश्वर, यतीश्वर, दयीश्वर, प्रजापति, वृषायुध, भूतनाथ, सहस्राक्ष, विश्वसृट्, योगविद्, यज्ञपति, प्रशमात्मा, माता, पितामह, महाकारुणिक, महाभूतपति, अरिंजय, शम्भु, जगत्पति, धर्मचक्री, सिद्धार्थ परमेश्वर, वृषपति, वृषध्वज, हिरण्यनाभि, हिरण्यगर्भ, स्थविर, गणाधिप, भिषग्वर, वरद, जातरूप, महेश्वर, महायोग, महामुनि, महादेव, नैकात्मा, मुनीश्वर, पुराणपुरुष, कनकप्रभ, दिग्वासा, वातरशना आदि ऐसे नाम हैं जो हेमचन्द्राचार्य विरचित "अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय", आशाधर के "जिनसहस्रनामस्तवन" और भट्टारक सकलकीर्ति विरचित "अर्हन्नाम जिनसहस्रनाम" में समान रूप से उपलब्ध होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेमचन्द्राचार्य का "अर्हन्नाम सहस्रसमुच्चय" तो ऐसा लगता है जैसे जिनसेन के जिनसहस्रनाम की काफी अंशों में पुनरावृत्ति हो।

इसी तरह महाभारत के अनुशासनपर्व के सत्रहवें अध्याय में आये जिनसहस्रनाम स्तोत्र में से भी कुछ ऐसे नाम प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो दोनों परम्पराओं में समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ स्वयम्भुव, सहस्राक्ष, ईश्वर, पितामह, प्रवर, स्थिरं, वरद, सर्वात्मा, सर्वकर, तपस्वी, महारूप, वृषरूप, महायशाः, महाकाय, सर्वभूतात्मा, अनघ, विश्वरूप, विशालाक्षा, महातपः, घोरतपः, परमतपः, योगी, सर्वज्ञ, दिग्वासा, मन्त्रवित्, रुद्र, गणपति, महातेज, प्रजापति, विश्वबाहु, सर्वग, आदित्य, हिरण्यगर्भ, मुनि, सिद्धसाधक, महासेन, हरि, ब्रह्मा, पशुपति, शुद्धात्मा, शंकर, महामुनि, कनकः, कांचनछवि, महात्मा, शुचि, देव, अदीति, सुहृद, महादेवाः, अजितः, शिव, विभुः, महागर्भः, पुराण, देवदेवः, सिद्धार्थ, हिरण्यबाहु, जितकामा, जितेन्द्रिय, महाबलः, तपोनिधि, पण्डित, त्रिलोचन, सर्वलोचना, महागर्भ, ब्रह्मवित्, ब्राह्मण, नैकात्मा, उमापति, परमात्मा, अचिन्त्य, नीरज, विरज, त्रिविक्रम, निरामयः, विश्वदेवा आदि।

ऐसा लगता है, जिनसेन के सामने, महाभारत रहा होगा। वे मूलरूप से प्रारम्भ में उसी परम्परा के अनुयायी विद्वान् थे, इसलिए महाभारत से परिचित होना भी स्वाभाविक है। उल्लेखनीय यह है कि जिनसेन ने महाभारत और समूची वैदिक परम्परा में शिव के लिए प्रयुक्त ऐसे नामों को तीर्थङ्कर जिन से जोड़ा है जिनकी व्याख्या जैन संस्कृति के अनुकूल की जा सकती है। कुछ व्याख्यायें तो इतनी मनोरम है कि जिनसेन की प्रगल्भ विद्वत्ता का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ, स्वयम्भू का अर्थ देखिए जिसमें उन्होंने लिखा है कि हे नाथ, आप अपने ही आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को उत्पन्न कर प्रकट हुए हैं, इसलिए आप स्वयंभू कहलाते हैं (२५.६६)। अष्ट कर्म रूपी शत्रुओं में से आप आधे अर्थात् चार घातिया कर्म रूपी शत्रुओं के ईश्वर नहीं हैं इसलिए आप अर्धनारीश्वर कहलाते हैं (२५.७३)। आप शिवपद अर्थात् मोक्ष स्थान में निवास करते हैं इसलिए शिव कहलाते हैं। पापरूपी शत्रुओं का नाश करने वाले हैं इसलिए हर कहलाते हैं, लोक में शान्ति करने वाले हैं, इसलिए 'शंकर कहलाते हैं। जगत् में श्रेष्ठ हैं इसलिए 'वृषभ' कहलाते हैं (७३-७५। समस्त जनसमूह के रक्षक होने से आप प्रजापति हैं (१२४)। जब आप गर्भ में थे तभी पृथ्वी स्वर्णमय हो गयी थी और आकाश से देवों ने भी स्वर्ण की वृष्टि की थी इसलिए आप हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। इसी तरह महेश्वर, महादेव, दिग्वासा, वातरशना आदि शब्दों की भी व्याख्या द्रष्टव्य है।

जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, जैनाचार्य समन्वयवाद के पुरोधा थे उन्होंने वैदिक और बौद्ध संस्कृति से अनुकूल शब्दों को ग्रहण किया और उनकी व्याख्या जैन संस्कृति के ढांचे में की। आचार्य जिनसेन ने भी उत्तराध्ययन आदि की शैली का उपयोग किया और शिववाचक शब्दों को जैन तीर्थङ्करों के साथ बैठा दिया। यह प्रवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरकालीन जैन साहित्य में भलीभांति देखी जा सकती है। हरिभद्र, जटासिंहनन्दि, सोमदेव, हेमचन्द्र, आशाधर आदि ने इसी शैली का भरपूर उपयोग किया है।

जिनसेन के पूर्व भी यह एकात्मकता द्रष्टव्य है। आचार्य विमलसूरि के पउमचरियम् (लगभग प्रथम शती ई०) में ऋषभदेव की स्तुति के प्रसंग में उन्हें स्वयम्भू, चतुर्मुख, पितामह, भानु, शिव, शंकर, त्रिलोचन, महादेव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, महेश्वर, ईश्वर, रुद्र और स्वयंसम्बुद्ध आदि नामों से स्मरण किया है (११, २८, ४९, ५५)। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वैदिक देवता से शिवतत्त्व की एक लम्बी यात्रा हुई है और रुद्र-शिव-ऋषभ एक ही परम्परा से सम्बद्ध एक ही व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। रुद्र अथवा शिव इस व्यक्तित्व के रौद्र-शक्ति सम्पन्न रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं और ऋषभदेव उसके कल्याण रूप को लिये हुए दिखाई देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में शिव और ऋषभदेव एक ही व्यक्तित्व के दो रूप हैं जिन्हें क्रमशः वैदिक और जैन संस्कृति ने अपने-अपने ढंग से अपनाया है। समूचे जैन साहित्य से यदि ऋषभस्तुतियां एकत्रित की जायें तो निश्चित ही यह तथ्य और भी पुष्ट हो सकेगा। इस प्रकार 'शिव' तत्त्व एक समन्वय का द्योतक है जिसको समझने की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में नितान्त आवश्यकता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खरतरगच्छ- लघुशाखा का इतिहास

*शिव प्रसाद**

खरतरगच्छ से समय-समय पर उद्भूत विभिन्न शाखाओं में लघुशाखा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य आचार्य जिनसिंहसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आयी। विक्रम सम्वत् की चौदहवीं शताब्दी में जैनधर्म के महान् प्रभावक और दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद तुगलक (ई०सन् १३२५-१३५१) के प्रतिबोधक आचार्य जिनप्रभसूरि इन्हीं के शिष्य एवं पट्टधर थे। खरतरगच्छ की इस शाखा में जिनदेवसूरि, जिनमेरुसूरि, जिनहितसूरि, जिनसर्वसूरि, जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय', जिनसमुद्रसूरि, जिनतिलकसूरि, जिनराजसूरि, उपा० कल्याणराज, मुनि चारित्रवर्धन, जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय' आदि कई प्रभावक और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं। विक्रम संवत् की १७वीं-१८वीं शती तक खरतरगच्छ की इस शाखा का अस्तित्व रहा, बाद में इसके अनुयायी श्रावकगण आचार्य जिनरंगसूरि द्वारा प्रवर्तित जिनरंगसूरिशाखा में सम्मिलित हो गये।

खरतरगच्छ की इस शाखा के इतिहास के अध्ययन के लिये सम्बद्ध मुनिजनों द्वारा रचित कृतियों की प्रशस्तियों तथा इसी परम्परा के किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा रचित **वृद्धाचार्यप्रबन्धावली**[1] का उल्लेख किया जा सकता है। जहां तक अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रश्न है इस शाखा से सम्बद्ध प्रतिमालेख वि०सं० १४४७ से वि०सं० १५९७ तक के हैं, तथा उनकी संख्या भी स्वल्प ही है, फिर भी इस शाखा के इतिहास के अध्ययन के सन्दर्भ में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। साम्प्रत निबन्ध में उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर इस शाखा के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

खरतरगच्छ की लघुशाखा के आदिपुरुष आचार्य जिनसिंहसूरि द्वारा रचित न तो कोई साहित्यिक कृति प्राप्त होती है और न ही किसी प्रतिमालेखादि में उनका नाम ही मिलता है, किन्तु उनके शिष्य एवं पट्टधर आचार्य जिनप्रभसूरि अपने समय के उद्भट विद्वान् थे। उनके द्वारा अनेक कृतियाँ मिलती हैं जिनमें उन्होंने अपने गुरु जिनसिंहसूरि का सादर उल्लेख किया है। अपनी विद्वत्ता एवं चारित्र से इन्होंने दिल्ली के तत्कालीन सुलतान मुहम्मद तुगलक को प्रभावित कर उससे जैन तीर्थों की रक्षा का फरमान भी जारी कराया। इन्होंने जैन आगम, जैन साहित्य, न्याय, दर्शन, व्याकरण, काव्य,

*. प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलङ्कार, छन्दशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर अनेक कृतियों की रचना की है।[२] इनके द्वारा रचित **कल्पप्रदीप** अपरनाम **विविधतीर्थकल्प**[३] और **विधिमार्गप्रपा** जैन साहित्य की अमूल्य निधि है। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने ७०० से ऊपर स्तोत्रों की रचना की, तथापि आज १०० के लगभग ही प्राप्त होते हैं।[४]

आचार्य जिनप्रभसूरि के शिष्य एवं पट्टधर जिनदेवसूरि हुए। इनके द्वारा रचित **कालकाचार्यकथा, शिलोच्छनाममाला** आदि कृतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनदेवसूरि के शिष्य जिनमेरुसूरि हुए जिनके द्वारा रचित न तो कोई कृति प्राप्त होती है और न ही इन्होंने किसी प्रतिमा आदि की प्रतिष्ठा की।

खरतरगच्छ से सम्बद्ध वि०सं० १४४७ में प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की धातु की एक प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख में जिनमेरुसूरि के शिष्य जिनहितसूरि का प्रतिमा प्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख मिलता है। आचार्य बुद्धिसागरसूरि[६] ने इस लेख की वाचना दी है, जो इस प्रकार है :

संवत् १४४७ फाल्गुन सुदि ८ सोमे श्रीमालवंशे ढोरगोत्रे ठ० रतनपु० नरदेवभार्यावा० नान्हीपु० ठ० धिरियारामकर्मसीहटीलादिभि; श्रीपार्श्वनाथसहिता पंचतीर्थी का०प्र० **खरतरगच्छे श्रीजिनमेरुसूरिपट्टे श्रीजिनहितसूरिभिः।।**

पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख, आदिनाथ जिनालय, मांडवीपोल, खंभात

यद्यपि इस लेख में कहीं भी खरतरगच्छ की लघुशाखा का उल्लेख नहीं है, फिर भी समसामयिकता, नामसाम्य, गच्छसाम्य आदि को देखते हुए इस लेख में प्रतिमा-प्रतिष्ठापक जिनहितसूरि के गुरु के रूप में उल्लिखित जिनमेरुसूरि एवं आचार्य जिनप्रभसूरि के प्रशिष्य और जिनदेवसूरि के शिष्य जिनमेरुसूरि एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

जिनसिंहसूरि (लघुशाखा के प्रवर्तक)
↓
जिनप्रभसूरि
↓
जिनदेवसूरि
↓
जिनमेरुसूरि
↓
जिनहितसूरि (वि०सं० १४४७/ई०स० १३८१ में पार्श्वनाथ की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक)

जिनहितसूरि द्वारा रचित **वीरस्तव** और **तीर्थमालास्तव** नामक कृतियां प्राप्त होती हैं।[७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनहितसूरि के एक शिष्य कल्याणराज हुए जिनके शिष्य चारित्रवर्धन द्वारा रचित कई कृतियां मिलती हैं।[८] इनका विवरण इस प्रकार है।

१. **रघुवंश-शिष्यहितैषिणीवृत्ति**
२. **कुमारसंभव-शिष्यहितैषिणीवृत्ति** (रचनाकाल वि०सं० १४९२)
३. **शिशुपालवध-वृत्ति**
४. **नैषधवृत्ति** (रचनाकाल वि०सं० १५११)
५. **मेघदूतवृत्ति**
६. **राघवपाण्डवीयवृत्ति**
७. **सिन्दूरप्रकरवृत्ति** (रचनाकाल वि०सं० १५१५)
८. **भावारिवारणस्तोत्रवृत्ति**
९. **कल्याणमंदिरस्तोत्रवृत्ति**

रघुवंशशिष्यहितैषिणीवृत्ति की प्रशस्ति[९] में इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का विस्तृत विवरण दिया है, जो इस प्रकार है :

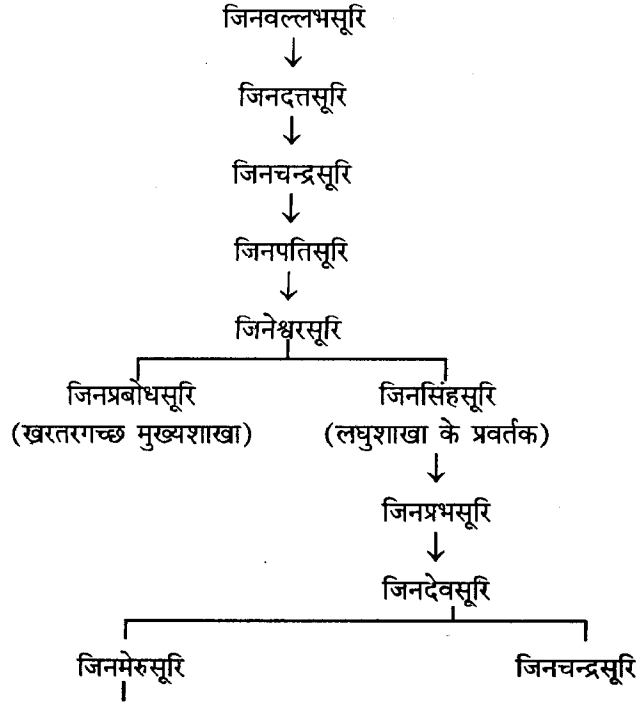

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

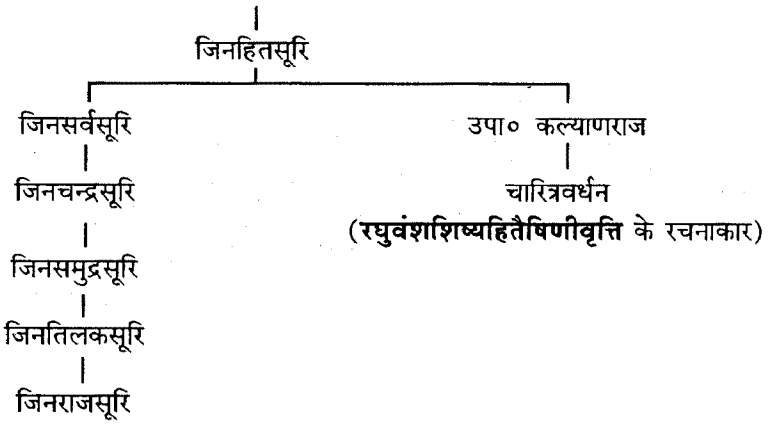

मुनि पुण्यविजय के संग्रह में वि०सं० १५९६/ई०स० १५४० में लिखित **प्रज्ञापनाटीका** की एक प्रति संरक्षित है।[१०] इस प्रतिलिपि की प्रशस्ति[११] में लिपिकार वाचक सहजकलश ने स्वयं को जिनप्रभसूरि की परम्परा का बतलाते हुए अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इसप्रकार है :

जिनप्रभसूरि की परम्परा के जिनहितसूरि
↓
उपा० आनन्दराज
↓
अभयचन्द्रगणि
↓
महो०हरिकलश
↓
वाचक सहजकलश (वि०सं० १५९६ में **प्रज्ञापनाटीका** के प्रतिलिपिकार)

आबू स्थित विमलवसही से प्राप्त वि०सं० १५९७/ई०स० १५४१ के एक स्तम्भलेख[११] में भी इसी प्रकार की गुर्वावली मिलती है, साथ ही इसमें मुनि सहजरत्न एवं उनके तीन शिष्यों— भक्तिलाभ, मतिलाभ और भावलाभ का श्रीमालगोत्रीय एक श्रावकपरिवार के साथ यहां तीर्थयात्रार्थ आने का उल्लेख है।

मुनि जयन्त विजयजी ने इस लेख की वाचना दी है, जो इस प्रकार है :

।।सं० (०) १५९७ वर्षे फागु (ल्गु) ण सुदि ५ श्रीखरतरगच्छे भ० श्रीजिनप्रभसूरियन्वए (र्यन्वये) उ० श्रीआनन्दराज सि० (शि०) उपा० श्रीअभयचन्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सि९ (शि०) उ० श्रीहरिकलश सि (शि)ष्य वा० श्रीसहजकलशगणिं सि० (शि०) भक्तिलाभ मतिलाभ। भावलाभ परिवारसहितेन यात्राकृता आदिनाथस्य सु(शु) भं भवतु।। श्रीमाल न्याती विनालियागोत्रे चौ० योधा पुत्र जगराज सहितेन यात्रा कृता: (ता)।।

प्रज्ञापनाटीका की **प्रशस्तिगतगुर्वावली** तथा आबू के उक्त स्तम्भलेख में उल्लिखित आनन्दराज के शिष्य अभयचन्द्र का गुणदत्तकथा और रत्नकरण्ड आदि कृतियों के रचनाकार के रूप में भी उल्लेख मिलता है।[१२]

जैसा कि हम देख चुके हैं चारित्रवर्धन द्वारा दी गयी **रघुवंशशिष्यहितैषिणीवृत्ति** की प्रशस्तिगत गुर्वावली में जिनहितसूरि के पट्टधर के रूप में जिनसर्वसूरि का नाम मिलता है। इनके द्वारा रचित न तो कोई कृति मिलती है और न ही किसी प्रतिमा के प्रतिष्ठापक के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। यही बात इनके शिष्य एवं पट्टधर जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' के बारे में भी कही जा सकती है।

जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' के पट्टधर जिनसमुद्रसूरि हुए, जिनके द्वारा रचित **रघुवंशटीका, कुमारसम्भवटीका** आदि कृतियां प्राप्त होती हैं।[१३] इनके बारे में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। जैसा कि चारित्रवर्धन द्वारा दी गयी प्रशस्तिगत गुर्वावली में हम देख चुके हैं जिनसमुद्रसूरि के पट्टधर के रूप में जिनतिलकसूरि का नाम मिलता है। वि०सं० १५०८ से १५२८ के मध्य प्रतिष्ठापित खरतरगच्छ से सम्बद्ध कुछ सलेख जिनप्रतिमायें प्राप्त हुई हैं[१४] जिन पर प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में जिनतिलकसूरि का नाम मिलता है। यद्यपि इन लेखों में न तो इनके गुरु का नाम मिलता है और न ही लघुशाखा से सम्बद्ध होने का ही उल्लेख है फिर भी उक्त प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापक जिनतिलकसूरि को समसामयिकता और नामसाम्य के आधार पर जिनसमुद्रसूरि के पट्टधर जिनतिलकसूरि से अभिन्न मानने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती। वि०सं० १५०८/ई०स० १४५२ में इन्होंने दशपुर में **सिन्दूरप्रकरवृत्ति** की रचना की।[१५] इसकी प्रशस्ति में इन्होंने स्वयं को जिनप्रभसूरि की परम्परा में हुए जिनचन्द्रसूरि का प्रशिष्य एवं जिनसमुद्रसूरि का शिष्य बतलाया है :

जिनप्रभसूरि
.
.
.
.
.
.
जिनचन्द्रसूरि
↓
जिनसमुद्रसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

↓

जिनतिलकसूरि (वि०सं० १५०८/ई०स० १४५२ में **सिन्दूरप्रकरवृत्ति** के रचनाकार)

वाग्भट्टालंकारटीका की वि०सं० १४८६ में प्रतिलिपि की गयी एक प्रति में टीकाकार राजहंस का उल्लेख करते हुए उन्हें खरतरगच्छीय जिनतिलकसूरि शिष्य बतलाया गया है।[१६]

वि०सं० १५०५/ई०स० १४४९ में **जीवप्रबोधप्रकरणभाषा** के रचनाकार विद्याकीर्ति भी जिनतिलकसूरि के ही शिष्य थे।[१७] जिनतिलकसूरि के पट्टधर जिनराजसूरि हुए। इनके द्वारा वि०सं० १५६२ में प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। वर्तमान में यह प्रतिमा रामघाट, वाराणसी स्थित एक जिनालय में संरक्षित है। श्री पूरनचन्द नाहर ने इस लेख की वाचना दी है[१८], जो इस प्रकार है :

सं० १५६२ वर्षे वैशाख सु० १० रवौ श्रीपाल मउवीया गोत्रे सा० परसंताने सा० पहराज पुत्र सा० ईसरेण भा० तिलकू पु० त्रिपुर दास युतेन पार्श्वनाथबिंबं स्वपुण्यार्थं कारितं। प्र० श्री खरतरगच्छे श्रीजिनतिलकसूरि प० श्री जिनराजसूरि पट्टे श्रीभि:।।

इस लेख में जिनराजसूरि के गुरु जिनतिलकसूरि का भी नाम मिलता है। इस प्रकार जिनतिलकसूरि के तीन शिष्यों — जिनराजसूरि, राजहंस और विद्याकीर्ति का उल्लेख प्राप्त होता है और जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं जिनराजसूरि अपने गुरु के पट्टधर बने।

जिनराजसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनके द्वारा प्रतिष्ठापित दो जिनप्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। ये वि०सं० १५६६ की हैं। इनमें से एक लेख धर्मनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा कोटा (राजस्थान) स्थित माणिकसागरजी के मन्दिर में संरक्षित है। श्री विनय सागरजी ने इसकी वाचना निम्नानुसार दी है :[१९]

संवत् १५६६ वर्षे ज्येष्ठ शुक्ल पंचम्यां। श्रीमालान्वये महतागोत्रे सा० हाल्हा-तस्य भार्या हीरा तयो: पुत्र। सकतन साध्वेति। तस्य भार्या। तेनेदं धर्मनाथबिंबं कारापितं श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनचन्द्रसूरिभि: प्रतिष्ठितं।

द्वितीय लेख पार्श्वनाथ की धातुप्रतिमा पर उत्कीर्ण है। श्रीपूरनचन्द्र नाहर ने इसकी वाचना दी है,[२०] जो इस प्रकार है :

सं० १५६६ वर्षे ज्येष्ठ शुक्ल नवम्यां श्रीमालवंशे महता गोत्रे सा० हाल्हा तस्य पुत्र सा० तकतनेनेदं पार्श्वनाथ बिंबं कारितं खरतरगच्छे श्रीजिनदत्त (?) सूरि अनुक्रमे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनचन्द्रसूरिभि: प्रतिष्ठितं।।

वि०सं० १४९७ के एक प्रतिमालेख में जिनराजसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख मिलता है। श्री पूरनचन्द नाहर ने इस लेख की वाचना दी है,[२१] जो इस प्रकार है :

सं० १४९७ वर्षे फाल्गुन सुदि ५ गुरौ श्री ऊकेशवंशे शंखवालगोत्रे सा० आसराज भार्या पारस पुत्र खेतापातादियुतैः श्री ..... बिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनचंद्र (?) सूरिभिः।।

सुपार्श्वनाथ जिनालय, जैसलमेर में संरक्षित एक पंचतीर्थी प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

चूंकि खरतरगच्छ की लघुशाखा को छोड़कर जिनराजसूरि और जिनचन्द्रसूरि के बीच गुरु-शिष्य का सम्बन्ध खरतरगच्छ की परम्परा में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता अतः यदि हम उक्त लेख को सम्पादक की भूल मानते हुए वि०सं० १४९७ के स्थान पर वि०सं० १५९७ का मान लें, तो सारी विसंगतियों का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

वि०सं० १५९५ के एक प्रतिमालेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लिखित खरतरगच्छीय जिनशीलसूरि के गुरु का नाम जिनचन्द्रसूरि बतलाया गया है।[२२] जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं वि०सं० १५६६ के दो प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लिखित जिनराजसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि खरतरगच्छ की लघुशाखा से सम्बद्ध सिद्ध हो चुके हैं, अतः इस लेख में उल्लिखित जिनशीलसूरि के गुरु जिनचन्द्रसूरि समसामयिकता और नामसाम्य के आधार पर जिनराजसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि से अभिन्न माने जा सकते हैं—

जिनतिलकसूरि (वि०सं० १५०८-२८) प्रतिमालेख
↓
जिनराजसूरि (वि०सं० १५६२) प्रतिमालेख
↓
जिनचन्द्रसूरि (वि०सं० १५६६-१५९७) प्रतिमालेख
↓
जिनशीलसूरि (वि०सं० १५९५) प्रतिमालेख

उत्तमकुमारचौपाई[२३] के रचनाकार महीचन्द भी खरतरगच्छ की इसी शाखा से सम्बद्ध थे। अपनी कृति की प्रशस्ति में उन्होंने जिनप्रभसूरि की परम्परा में हुए जिनराजसूरि का प्रशिष्य एवं कमलचन्द्रसूरि का शिष्य बतलाया है।[२४] ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार यह कृति जवणपुर (वर्तमान जौनपुर) में बाबर के पुत्र हुमायूँ के शासनकाल में वि०सं० १५९१/ई०सन् १५३५ में रची गयी।[२५]

इसे तालिका द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनप्रभसूरि

⋮

जिनराजसूरि

↓

कमलचन्द्रसूरि

↓

महीचन्द्र (वि०सं० १५९१/ई०स० १५३५ में जवणपुर में **उत्तमकुमारचौपाई** के कर्ता)

उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर खरतरगच्छ की लघुशाखा के विभिन्न मुनिजनों की गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका का पुनर्गठन किया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तालिका संख्या- १
खरतरगच्छ-लघुशाखा के मुनिजनों का वंशवृक्ष

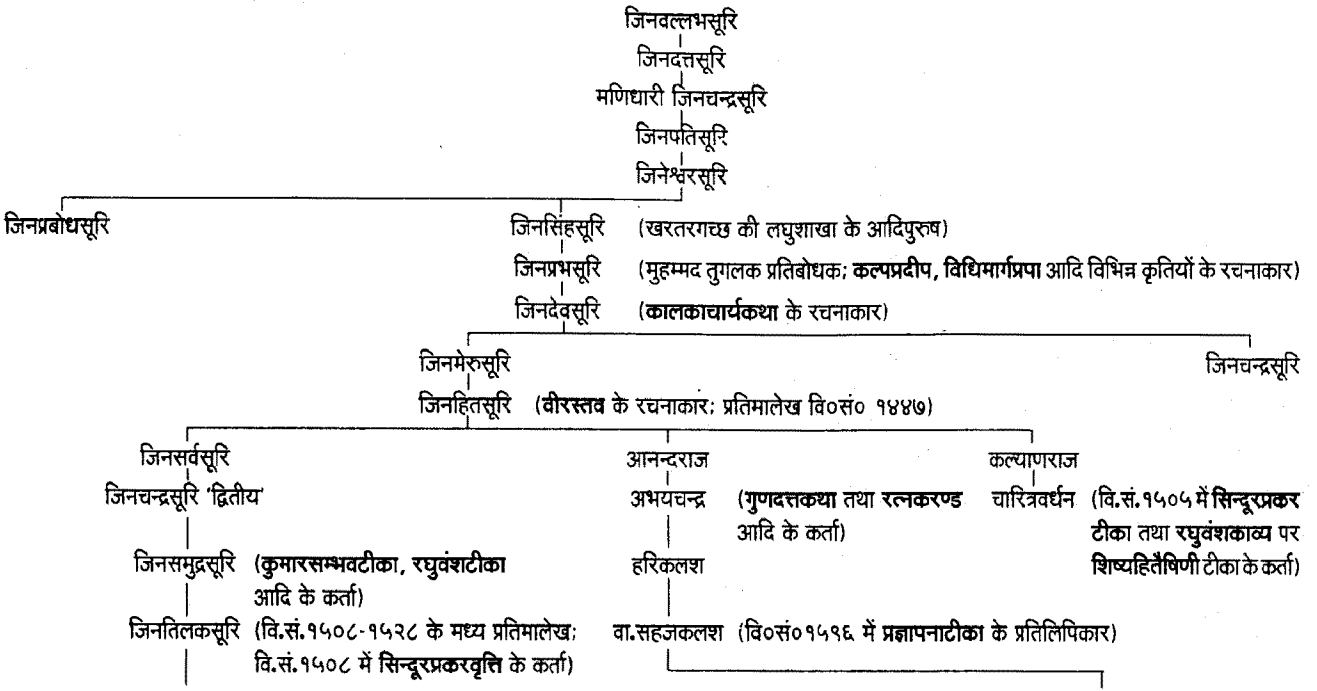

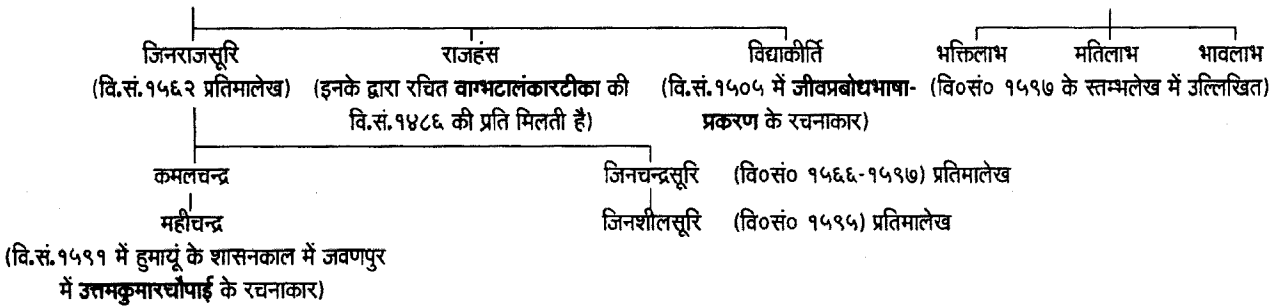

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

वि०सं० १५७२ में **जिनवचनरत्नकोश** के रचनाकार राजहंस,[२६] हर्षतिलक के शिष्य राजहंस,[२७] सागरतिलकसूरि के शिष्य एवं **पार्श्वनाथफाग** तथा **सीतासतीचौपाई** (वि०सं० १६११) आदि के कर्ता **समयध्वज,**[२८] **भुवनभानुकेवलीचरित** (वि०सं० १७वीं शती) के कर्ता **लक्ष्मीलाभ,**[२९] **मृगांकलेखाचौपाई** (वि०सं० १६६३) के कर्ता **भानुचन्द्र,**[३०] वि०सं० १७२३ में **दशवैकालिकस्तवकटीका** के रचनाकार चारित्रचन्द्र[३१] आदि भी खरतरगच्छ की इसी शाखा से ही सम्बद्ध थे। खरतरगच्छ की लघुशाखा की पूर्वोक्त तालिका के मुनिजनों से इन रचनाकारों का क्या सम्बन्ध रहा, यह ज्ञात नहीं होता। वर्तमान में इस शाखा का अस्तित्त्व नहीं है।

सन्दर्भ

१. मुनि जिनविजय, संपा० **खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली,** सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४२, बम्बई १९५९ ई०, पृ० ८८-९६.

२. महोपाध्याय विनयसागर, **शासनप्रभावकआचार्यजिनप्रभ और उनका साहित्य,** अभय जैन ग्रन्थमाला, पुष्प ३०, जयपुर १९७५ ई०, पृष्ठ ९० और आगे।

३. मुनि जिनविजय, सम्पा० **विविधतीर्थकल्प,** सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ६, शान्तिनिकेतन, १९३३ ई०

४. विनयसागर, पूर्वोक्त, पृष्ठ ९८ और आगे.

५. गुलाबचन्द्र चौधरी, **जैनसाहित्य का बृहद्इतिहास,** भाग ६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक २०, वाराणसी १९७३ ई०, पृष्ठ २११.

६. बुद्धिसागरसूरि, सम्पा०, **जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह,** भाग २, अध्यात्म ज्ञान प्रसार मण्डल, पादरा १९२४ ई०, लेखांक ६१७.

७. विनयसागर, पूर्वोक्त, पृष्ठ ७८-७९.

८. वही, पृष्ठ ८३-८४.

९. वही, पृष्ठ ८२.

१०. A.P. Shah, Ed. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss, Part IV, L.D. Series No. 20, Ahmedabad 1968 A.D., p. 5, No. 55.

११. मुनि जयन्तविजय, सम्पा० **अर्बुदप्राचीनजैनलेखसन्दोह,** विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४०, उज्जैन वि०सं० १९९४, लेखांक २००.

१२. अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा, सम्पा० **मणिधारीजिनचन्द्रसूरिअष्टम शताब्दीस्मृतिग्रन्थ,** मणिधारी जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी समारोह समिति, ५३, रामनगर, दिल्ली १९७१ ई०, भाग २, **''खरतरगच्छीयसाहित्यसूची''**, पृष्ठ १६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. विनयसागर, पूर्वोक्त, पृष्ठ ७८-७९, **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची,** पृष्ठ २२.

१४. पूरनचन्द नाहर, सम्पा०, **जैनलेखसंग्रह,** भाग २, कलकत्ता १९२७ ई०, लेखांक ११५८ एवं १२५७.

विनयसागर, सम्पा०, **प्रतिष्ठालेखसंग्रह,** कोटा १९५३ ई०, लेखांक ४४५, ४६५, ५७५.

१५. A.P.Shah, Ed. Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss : ***Muni Shree Punya Vijayaji's collection,*** Part II, L.D. Series No. 6, Ahmadabad, 1965, p. 334.

१६. HD. Velankara, ***Jinaratnakosha,*** Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1944 A.D., p. 347.

१७. **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची,** पृष्ठ १५.

१८. पूरनचन्द नाहर, सम्पा०, **जैनलेखसंग्रह,** भाग १, लेखांक ४१४.

१९. विनयसागर, सम्पा०, **प्रतिष्ठालेखसंग्रह,** लेखांक ९२६.

२०. नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक २९०.

२१. वही, भाग ३, लेखांक २१८१.

२२. बुद्धिसागरसूरि, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ७९०.

२३. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ,** भाग १, नवीन संस्करण, अहमदाबाद १९८६ ई०, पृष्ठ ३१५-१६, क्रमांक २३३.

२४. खरतरगच्छह जिनसिंघसूरि, सकल कला विद्या भरपूर।
तसु पट्टिहि जिणपह जगि जाण, जिणि बोह्यउ महमद सुलिताण।।
जिनराजसूरि तसु अनुक्रमि हुवउ, निर्मल न्यान बसइ जसु हियउ।
कमलचंद तसु पट्टि गणीस, महिचंद तिहनउ जाणि सुसीस।।
वही, प्रशस्ति, पृष्ठ ३१६.

२५. जवणापुर छइ दुर्ग अपार, तेहना गुण किंम कहउं विचार।
बाबर पातिसाहनइ पूत, हम्माउ सुलिताण जगत्ति।।
वही, प्रशस्ति, पृष्ठ ३१६.

२६. **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची,** पृष्ठ १५.

२७. वही, पृष्ठ ३२. २८. वही, पृष्ठ ५१,५८.

२९. वही, पृष्ठ २९. ३०. वही, पृष्ठ ५४.

३१. वही, पृष्ठ ५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि 'पावा' की पहचान

*ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव**

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का पावा में निर्वाण हुआ था। मल्लगण की एक शाखा की राजधानी पावा थी और दूसरी की कुशीनारा। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर कुशीनारा की पहचान वर्तमान कुशीनगर से की जा चुकी है, लेकिन पावा की पहचान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पावा की पहचान के सन्दर्भ में पावापुरी (नालंदा-बिहार), पडरौना एवं कुशीनगर जनपद में स्थित पपउर, सठियाँव-फाजिलनगर तथा उसमानपुर की विभिन्न विद्वानों द्वारा चर्चा की गयी है। जहाँ तक पावा के रूप में इन स्थलों की पहचान की बात है, पावापुरी, पडरौना और पपउर के बारे में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।[१] अत: पुन: उनका उल्लेख आवश्यक नहीं है। उल्लेखनीय है कि इन स्थलों से कोई पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसके आधार पर इनमें से किसी को पावा स्वीकार किया जा सके।

सठियाँव के पार्श्व में फाजिलनगर के उत्खनन में गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में 'श्रेष्ठिग्रामाग्रहारस्य'[२] लेखयुक्त एक मृण्मुद्रा प्राप्त हुई है जिससे स्पष्ट हो चुका है कि वर्तमान काल का सठियाँव गुप्तकाल में श्रेष्ठिग्राम था और फाजिलनगर उसका अग्रहार। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जैन ग्रन्थों में भगवान् महावीर के चतुर्मासों की सूची प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि उन्होंने राजगृह में ११, वैशाली में ७, वाणिज्य ग्राम में ५, मिथिला में ४, नालन्दा में २ तथा पावा में १ चातुर्मास व्यतीत किया था।[३] इससे स्पष्ट है कि वाणिज्य-ग्राम और पावा दो अलग-अलग स्थल थे। उल्लेखनीय है कि ई०पू० छठवीं शताब्दी का यह वाणिज्य ग्राम गुप्तकाल का श्रेष्ठिग्राम था जो वर्तमान में सठियाँव है। अत: सठियाँव और फाजिलनगर की पहचान पावा के रूप में नहीं की जा सकती।

उसमानपुर फाजिलनगर से लगभग ५-६ कि०मी० दक्षिण है। यहाँ का प्राचीन टीला लगभग २-३ कि०मी० की परिधि में विस्तृत है। प्राचीन मृदभाण्डों के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ की अनेक कलाकृतियाँ उसमानपुर के डॉ० श्याम सुन्दर सिंह के संग्रह में हैं, जिनमें एक मृण्मुद्रा पर मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में 'प(ा)वानारा' लेख अंकित है। इस मृण्मुद्रा से भगवान् की कैवल्यभूमि को पहचान में सहायता प्राप्त होती है,[४] क्योंकि यह एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्विक साक्ष्य है।

उसमानपुर के प्राचीन टीले को 'वीरभारी' कहते हैं। 'वीरभारी' का सीधा सम्बन्ध 'महावीर' से है। 'महावीर' और 'वीरभारी' में शब्द—साम्य भी है। 'वीरभारी' में महावीर और 'वीर' शब्द ज्यों का त्यों सुरक्षित है और 'महा' के लिए 'भारी' शब्द पूर्व के स्थान पर 'वीर' के बाद में प्रयुक्त हो गया है। अत: 'महावीर' और 'वीरभारी' में यह सम्बन्ध तथा वीरभारी से 'पावानारा' लेखयुक्त मृण्मुद्रा का मिलना स्पष्ट रूप से संकेत करता है कि कुशीनगर का 'वीरभारी' ही भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि 'पावा' है।

सुमंगलविलासिनी[५] की **टीका** में 'पावा' से कुशीनारा की दूरी ३ गव्यूत[६] (पावानगरतो तीणि गावुतानि कुसिनारा नगरम्) अर्थात् १२मील बतायी गयी है। अत: कुशीनगर से पावा की दूरी १२मील या लगभग १८कि०मी० होनी चाहिए। उल्लेखनीय है कुशीनगर से वीरभारी दक्षिण-पूर्व में लगभग १८कि०मी० दूर है। महात्मा बुद्ध ने वैशाली से कुशीनगर आने के पूर्व पावा में भोजन ग्रहण किया था अर्थात् पावा कुशीनगर से दक्षिण-पूर्व में वैशाली के मार्ग में स्थित था। इस प्रकार **सुमंगलविलासिनी** की टीका में दी गयी दूरी और दिशा की दृष्टि से भी वीरभारी की पहचान पावा के रूप में सुनिश्चित होती है।

उल्लेखनीय है कि पूर्व में भी मृण्मुद्राओं पर अंकित लेख से उनके प्राप्ति स्थल की पहचान की जा चुकी है, जैसे— 'श्रेष्ठिग्रामाग्रहारस्य' से सठियाँव और फाजिलनगर की, 'महापरिनिर्वाण भिक्षु संघ' और 'श्रीमहापरिनिर्वाण महाविहारीयार्य भिक्षु संघस्य'[७] आदि से कुशीनगर की, 'श्री नालंदा महाविहारे चातुर्दिशार्यभिक्षु संघस्य'[८] से नालन्दा की, 'कौशाम्ब्यां घोषिताराम महाविहारे भिक्षु संघस्य'[९] से कौशाम्बी की तथा 'ॐ देवपुत्र विहारे कपिलवस्तुस भिक्षु संघस्य' एवं महाकपिलवस्तु भिखु संघस्य'[१०] आदि से कपिलवस्तु की। अत: 'पावानारा' लेखयुक्त मृण्मुद्रा से 'पावा' के रूप में 'वीरभारी' की पहचान में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यह एक महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय साक्ष्य है। इस सन्दर्भ में यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सठियाँव, कुशीनगर, नालन्दा, कौशाम्बी और कपिलवस्तु की मृण्मुद्रायें अधिकांशत: गुप्तकाल और कुषाणकाल की हैं लेकिन वीरभारी की मृण्मुद्रा जिस पर 'पावानारा' लेख है, इनसे बहुत पूर्व की-मौर्य काल-की है।

इस प्रकार इन सभी दृष्टियों से यह तथ्य सम्पुष्ट होता है कि उत्तर प्रदेश में कुशीनगर जनपद का **वीरभारी** ही भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि **पावा** है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. भगवती प्रसाद खेतान, **महावीर निर्वाणभूमि पावा – एक विमर्श।**

२. प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित है।

३. नेमिनाथ शास्त्री, **तीर्थंकर नेमिनाथ और उनकी देशना,** पृष्ठ १६०।

४. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव, ***देवरिया एवं पडरौना जिले की मृण्मुद्रायें,*** ७ जनवरी १९९६ को कुशीनगर में पठित शोधपत्र।

५. **सुमंगलविलासिनी,** भाग २, पृष्ठ ५७३।

६. गव्यूतिस्तु क्रोश युगलम् — **अमरकोश।**

७. रामकुमार दीक्षित, **कुशीनगर,** पृष्ठ २९।

८. के०के० थापलियाल : **स्टडीज इन एन्सिएन्ट इण्डियन सील्स,** पृष्ठ २१४।

९. वही, पृष्ठ २०९।

१०. के०एम० श्रीवास्तव : **डिस्कवरी ऑफ कपिलवस्तु,** पृष्ठ ८३-८६।

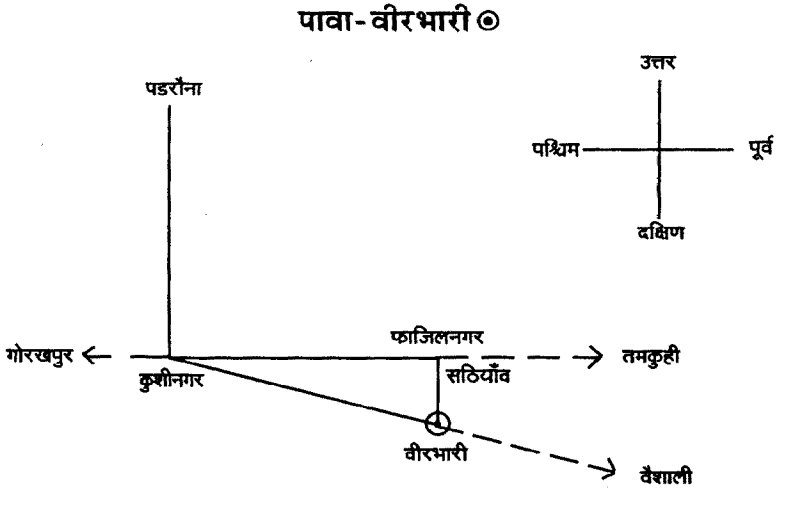

मुद्रा मुद्रा-छाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिपुराण में बिम्ब और सौन्दर्य

*विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव**

महाकवि आचार्य जिनसेन द्वितीय (ई०सन् की आठवीं-नवीं शती) द्वारा प्रणीत आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव स्वामी के महिमाशाली जीवन की महागाथा से सन्दर्भित महाकाव्य **आदिपुराण** का बिम्ब-विधान और सौन्दर्य-चेतना की दृष्टि से अध्ययन अतिशय महत्त्वपूर्ण है। महाकवि जिनसेन की यह कालोत्तीर्ण पौराणिक काव्यकृति बिम्ब और सौन्दर्य जैसे भाषिक और साहित्यिक कला के चरम विकास के उत्तमोत्तम निदर्शनों का प्रशस्य प्रतीक है।

बिम्ब— वस्तुत: बिम्ब-विधान कल्पना तथा वाग्वैदग्ध्य का काव्यात्मक विनियोजन है। वाक्प्रयोग की कुशलता या दक्षता ही वाग्वैदग्ध्य है। जिस काव्य में वाग्वैदग्ध्य का जितना अधिक विनियोग रहता है, वह उतना ही अधिक भाव-प्रवण काव्य होता है और भावप्रवणता कल्पना की उदात्तता पर निर्भर होती है। भावप्रवणता से उत्पन्न कल्पना जब मूर्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है। इसप्रकार, बिम्ब कल्पना का अनुगामी होता है।

बिम्ब-विधान कलाकार या काव्यकार की अमूर्त सहजानुभूति को इन्द्रियग्राह्यता प्रदान करता है। इस प्रकार बिम्ब को कल्पना का पुनरुत्पादन ('री-प्रोडक्शन') कहना युक्तियुक्त होगा। कल्पना से यदि सामान्य और अमूर्त या वैचारिक चित्रों की उपलब्धि होती है, तो बिम्ब से विशेष और मूर्त या वास्तविक चित्रों की। **आदिपुराण** में अनेक ऐसे कलात्मक चित्र हैं, जो अपनी काव्यगत विशेषता से मनोरम बिम्बों की उद्भावना करते हैं। इस महनीय महाकाव्य में काल्पनिक और वास्तविक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से बिम्बों का निर्माण हुआ है। इस क्रम में महाकवि जिनसेन ने बिम्ब-निर्माण के कई प्रकारों का आश्रय लिया है। जैसे— कुछ बिम्ब तो दृश्य के सादृश्य के आधार पर निर्मित हैं और कुछ संवेदन या तीव्र अनुभूति की प्रतिकृति या समानता पर निर्मित हुए हैं। इसी प्रकार कतिपय बिम्ब किसी मानसिक अवधारणा या विचारणा से निर्मित हुए हैं, तो कुछ बिम्बों का निर्माण किसी विशेष अर्थ को द्योतित करने वाली घटनाओं से हुआ है। पुन: कुछ बिम्ब उपमान या अप्रस्तुत से, तो कुछ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों पर लागू होने वाले श्लेष से निर्मित हुए हैं।

*. पी०एन० सिन्हा कालोनी, भिखना पहाड़ी, पटना ८१२००१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पना की इन्द्रिय ग्राह्यता की भाँति ही बिम्ब भी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों, जैसे चक्षु, घ्राण, श्रवण, स्पर्श और आस्वाद आदि से निर्मित होते हैं। युगचेता महाकवि जिनसेन द्वारा प्रस्तुत बिम्बों के अध्ययन से उनकी प्रकृति के साथ युग की विचारधारा का भी पता चलता है। कुल मिलाकर, बिम्ब एक प्रकार का रूप-विधान है और रूप का ऐन्द्रिय आकर्षण ही किसी कवि या कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। रूप-विधान होने के कारण ही अधिकांश बिम्ब दृश्य अथवा चाक्षुष होते हैं।

महाकवि जिनसेन द्वारा **आदिपुराण** के चतुर्थ पर्व में वर्णित जम्बूद्वीप के गन्धिल देश का बिम्ब-विधान द्रष्टव्य है :

यत्रारामाः सदा रम्या स्तरुभिः फलशालिभिः।
पथिकानाह्वयन्तीव परपुष्टकलस्वनैः।।

....

यत्र शालिवनोपान्ते खात् पतन्तीं शुकावलीम्।
शालिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधतीं तोरणश्रियम्।।
मन्दगन्धवहाधूताः शालिवप्राः फलानताः।
कृतसंराविणो यत्र छोत्कुर्वन्तीव पक्षिणः।।
यत्र पुण्ड्रेक्षुवाटेषु यन्त्रचीत्कारहारिषु।
पिबन्ति पथिकाः स्वैरं रसं सुरसमैक्षवम्।।

(श्लोक संख्या ५९, ६१-६३)

अर्थात् जिस देश के उद्यान फलशाली वृक्षों से सदा रमणीय बने रहते हैं तथा उनमें कूकती कोकिलाएँ अपने मधुर स्वरों से पथिकों का आह्वान् करती-सी लगती हैं।..... जिस देश में फसल की रखवाली करने वाली स्त्रियाँ धान के खेतों में आकाश से उतरने वाले तोतों के झुण्ड को हरे रंग के मणियों का तोरण समझती हैं। खेतों में पके फलों के बोझ से झुकी धान की बालियाँ जब मन्द-मन्द हवा से झलझलाती हुई हिलती हैं, तब वे ऐसी लगती हैं, जैसे पकी फसल खाने को आये पक्षियों को उड़ाकर भगा रही हैं। और, जिस देश में रस पेरने वाले कोल्हू की चूँ-चूँ आवाज से मुखरित ईख के खेतों में जाकर पथिक मीठे इक्षुरस का पान करते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में गन्धिल देश के कई भावचित्रों का विनियोग हुआ है। प्रथम चित्र में फलशाली वृक्षों द्वारा कोकिलों की कूक के माध्यम से पथिकों को आवाज देकर बुलाने के भाव का अंकन हुआ है। इसमें मनोरम गत्वर या गतिशील चाक्षुष बिम्ब के साथ ही कोकिल की कूक जैसे श्रवण बिम्ब में दृश्य के सादृश्य के आधार पर रूप-विधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो हुआ ही है, उपमान या प्रस्तुत के द्वारा भी वानस्पत्य बिम्ब का हृदयावर्जनकारी निर्माण हुआ है। इसमें वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से निर्मित सौन्दर्यबोधक बिम्ब सातिशय कला-रुचिर है।

यथा प्रस्तुत द्वितीय चित्र में तोतों के झुण्ड का सादृश्य हरे रंग की मणियों के तोरण से उपस्थित किया गया है, जिसमें मूर्त या प्रस्तुत के अमूर्तीकरण या अप्रस्तुतीकरण के माध्यम से मनोरम चाक्षुष बिम्ब का विधान हुआ है और फिर, तृतीय चित्र में मन्द-मन्द हवा से हिलती-बजती धान की बालियों में ध्वनि-कल्पना से प्रसूत चामत्कारिम श्रव्य बिम्ब के साथ ही फसल चुगने वाले पक्षियों को उड़ाने जैसे गतिशील चाक्षुष बिम्ब का उद्भावन किया गया है। पुनः चतुर्थ चित्र में पथिकों द्वारा मधुर इक्षुरस पीने के वर्णन के माध्यम से आह्लादक आस्वादमूलक बिम्ब की निर्मिति की गई है।

इसी क्रम में **आदिपुराण** महाकाव्य के षष्ठ पर्व में वाग्विदग्ध महाकवि जिनसेन की उदात्त कल्पना द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का चाक्षुष स्थापत्य-बिम्ब दर्शनीय है :

यः सुदूरोच्छ्रितैः कूटैर्लक्ष्यते रत्नभासुरैः।
पातालादुत्फणस्तोषात् किमप्युद्यन्निवाहिराट्।।

....

यद्वातायननिर्याता धूपधूमाश्चकासिरे।
स्वर्गस्योपायनीकर्त्तुं निर्मिमाणा घनानिव।।
यस्य कूटतटालग्नाः तारास्तरलरोचिषः।
पुष्पोपहारसम्मोहमातन्वन्तिनभोजुषाम् ।।
सद्वृत्तसंगता श्चित्रसन्दर्भरुचिराकृतिः।
यः सु शब्दो महान्महां काव्यबन्ध इवाबभौ।।

(श्लोक संख्या १८०, १८५-८७)

अर्थात्, रत्नों की किरणों से सुशोभित उन्नत शिखरों वाला वह जिनमन्दिर ऐसा दिखाई पड़ता था, जैसे फण उठाये शेषनाग पाताललोक से निकला हो, उस मन्दिर के वातायनों से निकलते मेघाकार धूप के धूम ऐसे लगते थे, जैसे वे स्वर्ग को उपहार देने के लिए नवीन मेघों की रचना कर रहे हों। पुनः उस मन्दिर के शिखरों के चारों ओर चमकते तारे देवों के लिए पुष्पोपहार का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे। उस जिनमन्दिर में सद्वृत्त या सम्यक्चारित्र के धारक मुनियों का निवास था, वह अनेक प्रकार के चित्रों से सुशोभित और स्तोत्र पाठ आदि के स्वर से मुखरित था। इस प्रकार वह पूरा जिनमन्दिर महाकाव्य की तरह प्रतीत होता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ महाकवि ने जिनमन्दिर को महाकाव्य से उपमित किया है। इस सन्दर्भ में जिनमन्दिर के जो चित्र प्रस्तुत हुए हैं, उनमें, प्रथम चित्र में उपमान और उत्प्रेक्षाश्रित इन्द्रियगम्य सर्पराज शेषनाग का बिम्ब उद्भावित हुआ है। फण उठाये शेषनाग का भयोत्पादक बिम्ब प्रत्यक्ष रूप-विधान का रोमांचक उदाहरण है। पूरे जिनमन्दिर की चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में महाकवि द्वारा संश्लिष्ट बिम्बों की रम्य-रुचिर योजना हुई है। मन्दिर की खिड़कियों से निकलते धूप के धूम का सादृश्य स्वर्ग के लिए उपहार-स्वरूप निर्मित नवीन मेघ से उपन्यस्त किया गया है, जिससे उपमामूलक परम रमणीय चाक्षुष बिम्ब का मनोहारी दर्शन सुलभ हुआ है। पुनः महाकाव्य से मन्दिर के सादृश्य में भी श्लेषगर्भ और उपमामूलक चाक्षुष बिम्ब की छटा दर्शनीय है; क्योंकि महाकाव्य में भी सद्वृत्त, यानी पिंगलशास्त्रोक्त समस्त सुन्दर छन्दों की आयोजना रहती है, चित्रकाव्यात्मक (मुरजबन्ध, खड्गबन्ध, पद्मबन्ध आदि) श्लोकों की प्रचुरता रहती है और फिर रमणीयार्थ— प्रतिपादक शब्दों की भी आवर्जक योजना रहती है; इस प्रकार उक्त जिनमन्दिर महाकाव्य जैसा प्रतीत होता था।

महाकवि जिनसेनकृत नख-शिख-वर्णन में तो विविध बिम्बों का मनोमोहक समाहार उपन्यस्त हुआ है। इस क्रम में महावत्सकावती देश के राजा सुदृष्टि के पुत्र सुविधि के नख-शिख (द्र० दशमपर्व) या फिर ऋषभदेव स्वामी की पत्नियों — सुनन्दा तथा यशस्वती के नख-शिख के वर्णन (द्र० पञ्चदश सर्ग) विशेष रूप से उदाहरणीय हैं। इसीप्रकार, महाकविकृत विजयार्ध-पर्वत के वर्णन में भी वैविध्यपूर्ण मनोहारी बिम्बों का विधान हुआ है। गरजते मेघों से आच्छादित इस पर्वत की मेखला के चित्र में जहाँ श्रावण बिम्ब का रूप-विधान है, तो इस पर्वत के वनों में भ्रमराभिलीन पुष्पित लताओं से फैलते सौरभ में विमोहक घ्राण-बिम्ब का उपन्यास हुआ है (द्र० अष्टादशपर्व)।

उक्त पर्वत की नीलमणिमय भूमि में प्रतिबिम्बित भ्रमणशील विद्याधरियों के मुख पद्म पर्वत भूमि में उगे कमलों जैसे लगते थे या फिर पर्वत की स्फटिकमणिमय वेदिकाओं पर भ्रमण करती विद्याधरियों के पैरो में लगे लाल महावर के चिह्नों से ऐसा लगता था, जैसे लाल कमलों से उन वेदिकाओं की पूजा की गई हो (द्र० तत्रैव, श्लोक संख्या १५८-५९)। इस वर्णन में महाकवि का सूक्ष्म वर्ण-परिज्ञान या रंग बोध देखते ही बनता है। रंग बोध की इस सूक्ष्मता से यथा प्रस्तुत रूपवती सुकुमारी विद्याधरियों के चाक्षुस बिम्ब में ऐन्द्रियता की उपस्थिति के साथ ही अभिव्यक्ति में विलक्षण विदग्धता या व्यंञ्जक वक्रता आ गई है। ज्ञातव्य है कि महाकवि की यह रंगचेतना पूरे महाकाव्य में कल्पना और सौन्दर्य के स्तर पर यथाप्रसंग बिम्बित हुई है।

इसी प्रकार, इस महापुराण के त्रयोविंश पर्व में वर्णित गन्धकुटी के नाम की अपनी अन्वर्थता है; क्योंकि कुबेर द्वारा निर्मित यह गन्धकुटी ऐसी पुष्पमालाओं से अलंकृत थी, जिसकी गन्ध से अन्धे होकर करोड़ों-करोड़ भ्रमण उन पर बैठे गुंजार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर रहे थे। उस गन्धकुटी में सुवर्ण-सिंहासन सजा था, जिसकी सतह या तलभाग से चार अंगुल ऊपर ही अधर में महामहिमामय भगवान् ऋषभदेव विराजमान थे। भ्रमरों द्वारा फैलाये हुए पराग से रंजित तथा गंगाजल से शीतल पुष्पों की वृष्टि भगवान् के आगे हो रही थी (द्र० त्रयोविंश पर्व)।

भगवान् के समीप ही अशोक का विशाल वृक्ष था जिसके हरे पत्ते मरकतमणि के थे और वह रत्नमय चित्र-विचित्र फूलों से सुशोभित था। उसकी शाखाएँ मन्द-मन्द वायु से हिल रही थीं। उस पर भ्रमर मद से मधुर आवाज में गुंजार कर रहे थे और कोयलें कूक रही थीं, जिससे ऐसा जान पड़ता था कि अशोक वृक्ष भगवान् की स्तुति कर रहा हो। भौरों के गुंजार और कोयलों की कूक से दसों दिशाएँ मुखरित हो रही थीं। अपनी हिलती शाखाओं से अशोक वृक्ष ऐसा लगता था जैसे वह भगवान् के आगे नृत्य कर रहा हो और अपने झड़ते फूलों से वह भगवान् के समक्ष दीप्तिमय पुष्पांजलि अर्पित करता-सा प्रतीत होता था।

इस सन्दर्भ में 'भुजगशिशिभृता' और 'रुक्मवती' वृत्त में आबद्ध महाकवि की रमणीय काव्यभाषिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

मरकतहरितैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः।
मरुदुपविधुताः शाखाश्चिरमधृत महाशोकः।।
मदकलविरुतैर्भृङ्गैरपि परपुष्टविहङ्गैः।
स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितदिक्कुरुते स्म।।

(भुजंगशिशिभृतावृत्त)

व्यायतशाखादोश्चलनैः स्वैर्नृत्तमथासौ कर्तुमिवाग्रे।
पुष्पसमूहैरञ्जलिभिद्धं भर्तुरकार्षीत् व्यक्तमशोकः।।

(रुक्मवतीवृत्त, पर्व २३, श्लोक ३६-३८)

यह पूरा अवतरण गत्वर चाक्षुष बिम्बों का समाहार बन गया है, जिसमें महाकवि जिनसेन ने गन्ध से अन्ध भ्रमरों के माध्यम से जहाँ घ्राणेन्द्रिय द्वारा आस्वाद्य घ्राणबिम्ब की अवतारणा की है, वहीं गंगाजल से शीतल पुष्पों में त्वगिन्द्रिय द्वारा अनुभवगम्य स्पर्श-बिम्ब का भी आवर्जक विनियोग किया है। साथ ही, यहाँ अशोक वृक्ष में मानवीकरण की भी विनियुक्ति हुई है। महाकवि द्वारा प्राकृतिक उपादान अशोक वृक्ष में मानव-व्यापारों का कमनीय आरोप किया गया है। वस्तुतः यह मानवेतर प्रकृति के वानस्पतिक उपादानों में चेतना की स्वीकृति है। साथ ही, यहाँ प्रस्तुत का अप्रस्तुतीकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सातिशय मोहक हो उठा है। हम कह सकते हैं कि महाकवि जिनसेन का यह मानवीकरण उनकी सर्वात्मवादी दृष्टि का प्रकृति के खण्डचित्रों में सहृदयसंवेद्य कलात्मक प्रयोग है। महाकवि ने मानवीकरण जैसे अलङ्कार-बिम्बों के द्वारा विराट् प्रकृति को काव्य में बाँधने का सफल प्रयास किया है, जिसमें मानव-व्यापार और तद्विषयक आंगिक चेष्टा का प्रकृति पर समग्रता के साथ आरोप किया गया है। प्रकृति पर मानव-व्यापारों के आरोप की प्रवृत्ति जैनेतर महाकवि कालिदास आदि में भी मिलती है, किन्तु वनस्पति में जीवसिद्धि को स्वीकारने वाले आचार्य जिनसेन आदि महाकवियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है।

महाकवि आचार्य जिनसेन के **आदिपुराण** के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि वह शब्दशास्त्र के पारगामी विद्वान् थे। इसलिए उनकी काव्यभाषिक सृष्टि में वाग्वैदग्ध्य के साथ ही बिम्ब और सौन्दर्य के समाहार-सौष्ठव का चमत्कारी विनिवेश हुआ है। उनकी काव्यभाषा में व्याकरण का चमत्कार तो है ही, काव्यशास्त्रीय वैभव की पराकाष्ठा भी है, जिसमें सामाजिक चिन्तन और लोकचेतना का भी समानान्तर विन्यास दृष्टिगत होता है।

महाकवि ने **आदिपुराण** के छब्बीसवें पर्व (श्लोक संख्या १२८ से १५०) में चक्रवर्ती भरत महाराज के दिग्विजय के वर्णन-क्रम में गंगा नदी की विराट् अवतारणा की है। इसमें महाकवि ने गंगा के प्रवाह के साथ भरत महाराज की कीर्ति के प्रवाह का साम्य प्रदर्शित किया है। इस नदी के वर्णन की काव्यभाषा में वाग्वैदग्ध्य तो है ही, मनोरम बिम्बों की भी भरमार है, साथ ही सौन्दर्य के तत्त्वों का भी मनभावन उद्भावन हुआ है।

सौन्दर्य— विकसित कला-चैतन्य से समन्वित **आदिपुराण** न केवल काव्यशास्त्र, अपितु सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करती है। काव्य-सौन्दर्य के विधायक मूलतत्त्वों में पद-लालित्य या पदशय्या की चारुता, अभिव्यक्ति की वक्रता, वचोभंगी या वाग्वैदग्ध्य का चमत्कार, भावों की विच्छित्ति या भंगिमा, अलङ्कारों की शोभा, रस का परिपाक, रमणीय कल्पना, हृदयहारी बिम्ब, रम्य-रुचिर प्रतीक आदि प्रमुख हैं। कहना न होगा कि इस महापुराण में सौन्दर्य-विधान के इन समस्त तत्त्वों का विनियोग हुआ है।

कलाचेता आचार्य जिनसेन ने अपने इस महाकाव्य में समग्र पात्र-पात्रियों और उनके कार्य-व्यापारों को सौन्दर्य-भूयिष्ठ बिम्बात्मक रूप देने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। समकालीन भौगोलिक स्थिति, राजनीति, सामाजिक चेतना एवं अर्थव्यवस्था के साथ ही लोक-मर्यादा, वेश-भूषा, आभूषण-परिच्छेद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र, खान-पान, आचार-व्यवहार, अनुशासन-प्रशासन आदि सांस्कृतिक उपकरणों एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दशक्ति, रस, रीति, गुण, छन्द, अलङ्कार आदि साहित्यिक साधनों का अपने इस महाकाव्य में उन्होंने यथाप्रसंग समीचीनता से विनिवेश किया है, फलतः भारतीय समाज के सम्पूर्ण इतिहास और समस्त संस्कृति के मनोरम तात्त्विक रूपों का एकत्र समाहार सुलभ हुआ है। भारतीय कला के स्वरूप के साङ्गोपाङ्ग निरूपण के लिए महाकवि जिनसेन के प्रस्तुत काव्य-साहित्य से बिम्बविधायक सौन्दर्य-सिक्त भावों और रमणीयार्थ के बोधक शब्दों, अर्थात् उत्कृष्ट वागर्थ का आदोहन केवल हिन्दी-साहित्य ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय साहित्य के लिए अतिशय समृद्धिकारक है।

आदिपुराण जैसे कामधुक् महाकाव्य से कला का मार्मिक ज्ञान और साहित्यिक अध्ययन— दोनों की सारस्वत तृषा बखूबी मिटायी जा सकती है; क्योंकि इस काव्यग्रन्थ में इतिहास और कल्पना के अतिरिक्त काव्य और कला— दोनों के योजक रस-तत्त्व की समान रूप से उपलब्धि होती है। आचार्य जिनसेन ने वैभव-मण्डित राजकुलाचार एवं समृद्ध लोकजीवन की उमंग से उद्भूत काव्य, साहित्य और कला के सौन्दर्यमूलक तत्त्वों की एक साथ अवतारणा की है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत महाकाव्य की रचना-प्रक्रिया में शृङ्गार से शान्त की ओर प्रस्थिति उन आचार्य जैन कवियों की चिन्तनगत विशेषता की ओर संकेत करती है, जिसमें कामकथा का अवसान बहुधा धर्मकथा में किया जाता है और धर्मकथा का प्रचार-प्रसार ही इस प्रकार की काव्यकथा का मूल उद्देश्य होता है।

आदिपुराण की कथाओं में समाहित कला-तत्त्व की वरेण्यता के कारण ही इस काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य अपना विशिष्ट मूल्य रखता है। सौन्दर्य-विवेचन में, विशेषतः नख-शिख के सौन्दर्योद्भावन में महाकवि जिनसेन ने उदात्तता ('सब्लाइमेशन') की भरपूर विनियुक्ति की है।

विजयार्ध पर्वत के तट को आक्रान्त कर प्रवाहित होने वाली गंगा नदी के सौन्दर्याङ्कन (पर्व २६) में उदात्तता का उत्कर्ष दर्शनीय है, जिसमें उपमा-बिम्ब की रमणीयता बरबस मन को मोह लेती है। वह गंगा नदी रूपवती स्त्री के समान थी; क्योंकि मछलियाँ ही उसकी चंचल आँखें थीं। उठती हुई तरंगें उसकी नर्तनशील भौंहों के समान थीं। नदी के उभय तटवर्ती वनपंक्ति ही उसकी साड़ी थी। मुखरित हंसमाला उसकी, बजते घुँघरुओं वाली करधनी के समान थी। लहरें ही उसके लहराते वस्त्र थे। अपना वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित करते हुए महाकवि ने गंगा को 'समांसमीना' विशेषण से मण्डित किया है। गंगा 'समांसमीना' गाय के समान थी। 'समांसमीना' का अर्थ है — वह उत्तम गाय, जो प्रतिवर्ष बछड़े को जन्म देती है ('समां समां वर्षं वर्षं विजायते प्रसूते' इति -निपातसिद्ध शब्द)। इसी प्रकार, गंगा भी 'समांसमीना' है, अर्थात् मांसल या परिपुष्ट मछलियों वाली है। पुनः उत्तम गाय में जैसे पर्याप्त पय, अर्थात् दूध होता है, वैसे ही गंगा में पर्याप्त पय, अर्थात् जल है और फिर, उत्तम गाय जैसे धीरे स्वर में रँभाती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ('धीरस्वना' होती है), वैसे ही गंगा भी गम्भीर कल-कल शब्द करती है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में वाक्सौन्दर्य, अर्थ-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य के साथ ही पावनतामूलक एवं समगश्लेषपरक बिम्ब-सौन्दर्य का एकत्र समवाय हुआ है।

गंगा के शृङ्गारपरक सौन्दर्य को शान्स रस की ओर मोड़ते हुए महाकवि ने लिखा है कि उत्तम गाय की तरह गंगा भी पूजनीय और जगत् को पवित्र करने वाली है, साथ ही वह जिनवाणी के समान जान पड़ती है :

गुरुप्रवाह प्रसृतां तीर्थकामैरुपासिताम्।

गम्भीरशब्दसम्भूतिं जैनीं श्रुतिमिवामलाम्।। (श्लोक १३७)

जिनवाणी जिस प्रकार गुरु-प्रवाह, अर्थात् आचार्य परम्परा से प्रसारित होती है; तीर्थ, अर्थात् धर्म के आकांक्षी पुरुषों द्वारा उपासित होती है, गम्भीर शब्दों वाली और दोषरहित है, उसी प्रकार गंगा भी विशाल जल प्रवाह वाली है, तीर्थकर्मियों द्वारा उपासित होती है, गम्भीर घोष करने वाली तथा निर्मल और निष्पंक है। यहाँ गंगा का गाय और जिनवाणी से सादृश्य की प्रस्तुति से पवित्रताबोधक चाक्षुष बिम्ब-सौन्दर्य का विधान हुआ है।

महाकवि आचार्य जिनसेन नारी-सौन्दर्य के समानान्तर ही पुरुष-सौन्दर्य का भी उदात्त चित्र आँकने में निपुण हैं। स्त्री-सौन्दर्य का रमणीय चित्र ऋषभदेव की माता मरुदेवी, जो रूप, सौन्दर्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, द्युति और विभूति में इन्द्राणी के समान थीं, की शारीरिक संरचना (द्र०, द्वादश पर्व, श्लोक संख्या १२-५८) के रूप में प्रस्तुत हुआ है, तो पुरुष-सौन्दर्य का भव्य चित्र राजा वज्रसेन के पुत्र वज्रनाभि की शारीरिक संरचना (द्र० एकादश पर्व, श्लोक संख्या १५-३६) के रूप में। अवश्य ही इन दोनों प्रकार के सौन्दर्योद्भावन में महाकवि ने अपनी काव्यप्रौढ़ि का प्रकर्ष प्रस्तुत करने में विस्मयकारी कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। इसी प्रकार महाकवि ने कोमल बिम्ब के समानान्तर परुष बिम्ब का भी अतिशय उदात्त सौन्दर्योद्भावन किया है। इस सन्दर्भ में दशम पर्व में वर्णित नरक के विभिन्न क्रूर और घृणित दृश्य उदाहरणीय हैं। विशेषकर नारकियों को कढ़ाई में खौलाकर रस बनाने या उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर कोल्हू में पेरने आदि के दृश्यों में वीभत्स बिम्बों का रोमांचकारी विधान हुआ है। नरक के दृश्यों में महाकवि जिनसेन द्वारा प्रस्तुत परुष और वीभत्स बिम्बों की द्वितीयता नहीं है।

सौन्दर्य के तत्त्वों में अन्यतम वाग्वैदग्ध्य की दृष्टि से महाकवि द्वारा प्रस्तुत वज्रनाभि के तपो वर्णन-प्रसंग में 'प्रायोवेशन' शब्द का तथा मरुदेवी के शारीरिक चित्रण में 'वामासे' शब्द के निरुक्ति-वैविध्य का चमत्कार द्रष्टव्य है। इन दोनों की निरुक्ति-प्रक्रिया में काव्य और व्याकरण का समेकित अर्थ-सौन्दर्य अतिशय रोचक होने के साथ ही ततोऽधिक रंजनकारी भी है। यह पदगत वाग्वैदग्ध्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रायोपवेशन' की निरुक्ति :

ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते।
प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत्।।
रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः।
प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमापिपत् ।।
प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः।
प्रायेणोपगमो यस्मिन् दुरितारिकदम्बकान्।।
प्रायेणास्माज्जनस्थानादपसृत्य गमोऽटवेः।
प्रायोपगमनं तज्ज्ञैर्निरुक्तं श्रमणोत्तमैः।।

(पर्व ११, श्लोक संख्या ९४-९७)

अर्थात्, आयु के अन्त में बुद्धिमान् वज्रनाभि ने श्रीप्रभ नामक ऊँचे पर्वत पर प्रायोपवेशन धारण कर शरीर और आहार का ममत्व त्याग दिया। चूँकि इस संन्यास में तपस्वी साधु रत्नत्रय की शय्या पर उपविष्ट होता है, इसलिए इसका 'प्रायोपवेशन' नाम सार्थक है। इस संन्यास में प्रायः रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति होती है, इसलिए इसे 'प्रायेणोपगम' भी कहते हैं। अथवा इस संन्यास के धारण करने पर प्रायः कर्मरूपी शत्रुओं का अपगम या विनाश हो जाता है, इसलिए इसे 'प्रायेणापगम' भी कहते हैं। इस संन्यास में प्रायः संसारी जीवों के रहने योग्य ग्राम, नगर आदि से अलग होकर वन में जाकर रहना पड़ता है, इसके विशेषज्ञ श्रमण मुनियों ने इसे 'प्रायोपगमन' कहा है।

'वामोरु' की निरुक्ति :

वामोरुरिति या रूढिस्तां स्वसात् कर्तुमन्यथा।
वामवृत्ती कृतावूरु मन्येऽन्यस्त्रीजयेऽमुया।।

(पर्व १२, श्लोक संख्या २७)

अर्थात्, महाकवि कहते हैं— 'मैं ऐसा मानता हूँ कि अभी तक संसार में मनोहर ऊरुवाली स्त्रियों के अर्थ में 'वामोरु' शब्द रूढ़ है। उसे मरुदेवी ने अन्य प्रकार से आत्मसात् कर लिया था। उन्होंने अपने दोनों ऊरुओं को अन्य स्त्रियों को पराजित करने के लिए वामवृत्ति वाला, शत्रुवत् आचरण करने वाला बना लिया था।' कोश के अनुसार 'वाम' शब्द का अर्थ सुन्दर भी होता है और दुष्ट या शत्रु भी। मरुदेवी ने, जो सुन्दर ऊरुवाली स्त्री थी, अपने उन ऊरुओं से अन्य स्त्रियों के ऊरुओं की सुन्दरता को मात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर दिया था। इस सन्दर्भ में निर्मित अभंग श्लेष का बिम्ब-सौन्दर्य अतिशय चित्ताह्लादक और मनोमोहक है।

बिम्ब-विधान और सौन्दर्य-निरूपण के सन्दर्भ में अतिशय प्रतिभाप्रौढ एवं वाग्विदग्ध महाकवि आचार्य जिनसेन की काव्यभाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उनकी काव्यभाषा सहज ही बिम्ब-विधायक और सौन्दर्योद्भावक है। उनकी काव्य साधना मूलत: भाषा की साधना का ही उदात्ततम रूप है। कोई भी कृति अपनी भाषा की उदात्तता के आधार पर ही चिरायुषी होती है। इस दृष्टि से महाकवि जिनसेन का **आदिपुराण** एक कालजयी काव्यकृति है। **आदिपुराण** की काव्यभाषा यदि अनन्त सागर के विस्तार की तरह है, तो उससे उद्भूत बिम्ब और सौन्दर्य के रम्य चित्र ललित लहरों की भाँति उल्लासकारी हैं। वाक् और अर्थ की समान प्रतिपत्ति की दृष्टि से आचार्य जिनसेन की भाषा की अपनी विलक्षणता है।

कवि की भाषागत अभिव्यक्ति का लालित्य ही उसकी कविता का सौन्दर्य होता है और उस लालित्य का तात्त्विक विवेचन-विश्लेषण ही सौन्दर्यशास्त्र का विषय है, जिसमें काव्य के रचना-पक्ष के साथ ही उसके प्रभाव-पक्ष का भी विवेचन-विश्लेषण निहित होता है। कहना न होगा कि कविर्मनीषी आचार्य जिनसेन का **आदिपुराण** रचना-पक्ष और प्रभाव-पक्ष, अर्थात् कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से सौन्दर्यशास्त्रियों के लिए अध्येतव्य है।

कुल मिलाकर, महाकविकृत इस सौन्दर्य-गर्भ महाकाव्य का समग्र बिम्ब-विधान उनकी सहजानुभूति की उदात्तता का भाषिक रूपायन है, जो इन्द्रिय-बोध की भूमि से अतीन्द्रिय सौन्दर्य-बोध की सीमा में जाकर निस्सीम बन गया है। उनका समग्र आत्मिक कला-चिन्तन अन्तत: आध्यात्मिक चिन्तन के धरातल पर प्रतिष्ठित हो गया है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में अहिंसात्मक तत्त्व

*डॉ० मधु अग्रवाल**

महाभारत के आदिपर्व में उपलब्ध शकुन्तलोपाख्यान की कथा में परिवर्तन और परिवर्द्धन कर महाकवि कालिदास ने संस्कृत साहित्य के सर्वप्रसिद्ध नाटक **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** की रचना की। महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत इस नाटक में कवि का वन्य पशु-पक्षियों के प्रति अहिंसा का भाव परिलक्षित है। आदिपर्व में उपलब्ध मूल कथानक में पशु-पक्षियों का वर्णन नहीं है। अत: **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** नाटक के अङ्कों में पशु-पक्षियों को चित्रित करना व उनके प्रति अहिंसा वृत्ति रखने की प्रेरणा देना, कहीं उनके बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देकर जीवन में उनके प्रति मित्रवत् व्यवहार का प्रदर्शन करना, कवि का अपना परिकल्पन और परिवर्द्धन है। मूल कथानक का नायक दुष्यन्त एक विलासी राजा के रूप में चित्रित किया गया है और राजमहल तथा आश्रम में शकुन्तला के दर्शन और कण्व ऋषि के वृत्तान्त के साथ ही कथा का अन्त हो जाता है। महाकवि कालिदास द्वारा पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम, मित्रता और अहिंसात्मक प्रवृत्ति के प्रसङ्ग निम्नलिखित स्थलों पर प्राप्य हैं—

(१) प्रथम अङ्क की प्रस्तावना में नटी और सूत्रधार के वार्तालाप से **अभिज्ञान शाकुन्तलम्नाटक** के प्रारम्भ किये जाने की सूचना के उपरान्त सद्य: प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु का आश्रय लेकर नटी एक गीत गाती है, जिसको सुनकर सूत्रधार कहता है कि जिस प्रकार हिरण के द्वारा राजा दुष्यन्त बलात् दूर ले जाया गया था, उसी प्रकार मैं तुम्हारे सुमधुर गीत से बलात् हर लिया गया हूँ और इस उक्ति के साथ ही रथ पर बैठा हुआ राजा दुष्यन्त सारथी के साथ हिरण का पीछा करते हुए दृष्टिगोचर होता है और इस बीच में दो शिष्यों के साथ एक तपस्वी उपस्थित होकर राजा से यह अनुरोध करता है कि "राजन्! आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य:" इति। ऐसा सुनकर दुष्यन्त तुरन्त अपना वाण रोक लेता है। इससे सन्तुष्ट होकर तपस्वी राजा को "अपने सदृश चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करो" ऐसा आशीर्वाद देता है।

---

*. रीडर, संस्कृत-विभाग, रानी भाग्यवती देवी स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय, बिजनौर, उत्तर प्रदेश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) महाकवि कालिदास द्वारा वैखानस नाम के शिष्य के माध्यम से राजा को निम्न स्थल पर स्पष्ट रूप से अपने राज्य की सीमा में रहने वाले निरपराध पशु-पक्षियों की रक्षा करने व उन पर बाण साध कर हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है—

तत्साधु कृत सन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।।

(अच्छी प्रकार से जिसके लक्ष्य को साध लिया गया है ऐसे बाण को रोक लो, क्योंकि आपका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए है, निरपराध पर प्रहार करने के लिए नहीं।)

राजा दुष्यन्त 'यह र. .लिया' कहकर बाण को रोक लेता है। तपस्वी वैखानस राजा दुष्यन्त को अहिंसक वृत्ति के इस आदेश का तुरन्त पालन करने के कारण, प्रोत्साहन देते हुए प्रशंसा करता है 'पुरुवंश के दीपक तुम्हारे लिए यह उचित ही है।' 'जिसका पुरुवंश में जन्म हुआ है, उस तुम दुष्यन्त के लिए यह उचित ही है (अर्थात् हिंसा न करने की बात को मान लेना)। तपस्वी दुष्यन्त को आशीर्वाद देते हुए कहता है, 'इसी प्रकार अपने गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करो।' साथ आए अन्य दोनों तपस्वी भी भुजा उठाकर अहिंसावृत्ति से प्रसन्न होने के कारण यही आशीर्वाद दोहराते हैं और राजा प्रणामपूर्वक 'स्वीकार कर लिया' कहकर स्वीकार करता है।

(३) तपस्वी वैखानस राजा दुष्यन्त को आश्रम में आने के लिए आमन्त्रित करता है। आश्रम की सीमा के निकट पहुँचकर राजा और सूत के निम्न संवाद से ज्ञात होता है कि विशेष रूप से आश्रमों में ऐसा विश्वसनीय अहिंसा का वातावरण था, जहाँ पर सभी पशु-पक्षी निर्भय होकर अन्य तपोवनवासियों की तरह विचरण करते थे और उन्हें किसी भी दूसरे जीव-जन्तु या आश्रमवासी द्वारा मारे जाने का लेशमात्र भी भय नहीं था। राजा— (चारों ओर देखकर) सूत! 'वस्तुतः बिना कहे ही पता लग रहा है कि तपोवन के आश्रम की सीमा का आरम्भ हो गया है।' सूत— कैसे, राजा— क्या आप नहीं देख रहे हैं, क्योंकि यहाँ—कहीं वृक्षों के नीचे शुक हैं, मध्य में जिनके ऐसे तरुविवरों के मुख से गिरे हुए तृण धान्य दिखाई दे रहे हैं— कहीं विश्वास के उत्पन्न हो जाने के कारण अपनी गति को न छोड़ने वाले हिरण रथ के शब्द को सहन कर रहे हैं।' इन संवादों से आश्रम में अहिंसकवृत्ति व शान्ति और विश्वास का विशेष वातावरण दर्शाया गया है।

(४) अन्यत्र— तपोवन के प्राणियों के प्रति रक्षा की उत्कट भावना दृष्टिगोचर होती है— जैसे इस संवाद में, 'हे तपस्वियों! तपोवन के प्राणियों की रक्षा के लिए तैयार हो जाओ, क्योंकि सुना जा रहा है कि मृगयाविहारी दुष्यन्त पास ही है।'

कालिदास ने आखेटव्यसनी राजा दुष्यन्त से डरे हुए प्राणियों का चित्रण करके उसके ही मित्र विदूषक से निन्दा कराई है, यथा— हमारी तपस्या के लिए साक्षात् विघ्नस्वरूप यह जंगली हाथी प्रवेश कर रहा है। वह रथ देखने से भयभीत है, उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आघात से वृक्ष हट गये हैं, पैरों से खिंचकर लतायें उसके पैरों से पाश जैसी लिपट गयी हैं और उसके भय से हिरण-समूह इधर-उधर भाग गया है। यह कहकर तपोवनवासी दुष्यन्त से भय प्रकट करते हैं व हिंसा रोकने के लिए तत्पर हो जाते हैं। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** के द्वितीय अंक में विदूषक राजा दुष्यन्त के मृगया व्यसन की कटु भर्त्सना करता है व आखेट की निन्दा करते हुए मृगया के अनेक दोषों को बताता है— देखिए इस स्थल का संवाद—

(५) विदूषक— (लम्बी साँस लेकर) अरे! देख लिया। इस मृगयाव्यसनी राजा की मित्रता से तो मैं तंग आ गया। "यह हिरण जा रहा है", "यह सुअर जा रहा है", "वह व्याघ्र जा रहा है" इस प्रकार चिल्लाते हुए दोपहर में भी एक वन से दूसरे वन में वृक्षों की पङ्क्तियों में, जिनमें ग्रीष्म ऋतु के कारण वृक्षों की छाया विरल है, घूमना पड़ता है। पत्तों के मिलने के कारण पहाड़ी नदियों का कसैला जल पीना पड़ता है। अनिश्चित समय पर भोजन करना पड़ता है, अधिकतर सूल पर भुना हुआ माँस ही खाना होता है, मृगों के पीछे घोड़ा दौड़ाने से हड्डियों के जोड़ों में पीड़ा उत्पन्न हो जाने से रात में भी सोने को नहीं मिलता"—

"राजा— आखेट की निन्दा करने वाले विदूषक ने मेरा उत्साह ठण्डा कर दिया है—

हम आश्रम के निकट स्थित हैं, अत: आज तो —

भैंसें अपनी सींगों से बार-बार आलोडित जलाशय के जल में स्वच्छतापूर्वक स्नान करें, मृगों के झुण्ड छाया में मण्डली बनाकर बैठे हुए निर्भय होकर जुगाली करें, बड़े-बड़े सुअर निर्भय होकर तलैयों में मोथा उखाड़ें और मौर्वी के ढीले बन्धन वाला मेरा धनुष भी विश्राम करे।

अन्यत्र— हिंसा न करने के लिए राजा सेना को निर्देश देता है—

राजा— तो आगे गए हुए वन घेरने वालों को लौटा लो। मेरे सैनिकों को इस प्रकार रोक दो कि जिससे वे तपोवन में बाधा न पहुँचाएँ।"

(६) सप्तम अंक में बालक सर्वदमन सिंह शावक के साथ खेलते हुए दर्शाया गया है। यह बालक दुष्यन्त का औरस पुत्र है, सिंह के बच्चे को खींचकर वह कहता है "अपना मुख खोल, मैं तेरे दाँतों को निगूँगा।" उस बालक की परिचर्या में आई हुई दो तपस्विनी बालक को ऐसा करने के लिए मना करती हैं, पर वह मानता नही है। कहने मात्र से यह बालक नहीं मानेगा— ऐसा सोचकर एक तपस्वी स्त्री उसका मन अन्यत्र बहलाने के लिए मिट्टी के बने हुए मोर को लाने के लिए वहाँ से चली गई और दूसरी तापसी ने राजा को देखकर कहा कि इस बालक को, शेर के बालक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दुःखी करने से बचाओ।

प्रथम अंक में मृगयाव्यसनी राजा दुष्यन्त की दृष्टि हिरण में सौन्दर्य की खोजकर उसकी भाव-भंगिमाओं पर मुग्ध होती है। वह हिरण को देखकर कहता है— "सूत! इस मृग से हम दूर तक आकृष्ट होते हुए खींच लाए गए हैं—

देखो! (इस समय भी यह सामने दिखाई देने वाला मृग) पीछा करते हुए रथ पर गर्दन मोड़ने के कारण बार-बार देखने पर सुन्दर प्रतीत होता है। बाण के लगने के भय से अपने शरीर के पिछले आधे भाग से अत्यधिक अपने आगे के भाग में प्रविष्ट होकर आधे चबाए गए दर्भों से मार्ग को व्याप्त करता है और अत्यधिक ऊँचा और लम्बा कूदने के कारण आकाश में अधिक और पृथ्वी पर कम जा रहा है।"

अन्ततः यह स्पष्ट है कि महाकवि कालिदास ने आखेट का चित्रण कर हिंसा को दर्शाकर, आखेट की निन्दा कर समस्त प्राणियों के लिए अहिंसा का मार्ग प्रशस्त करने का अपने इस नाटक में सतत् प्रयास किया है और **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** नाटक की कथावस्तु में सभी जीव-जन्तुओं के प्रति स्निग्ध दृष्टि व अहिंसा और रक्षा प्रदान किये जाने का भाव विद्यमान है।

सभी प्रसङ्ग मूल कथानक में नहीं थे, अतः नये कथानक कवि की सुन्दर परिकल्पना हैं। किसी भी कृति पर उसके रचनाकार के अपने व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप होती है, यह सत्य नितान्त सत्य है और इस दृष्टि से उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास का हृदय पशु-पक्षियों के प्रति अगाध प्रेम भाव से परिपूर्ण परिलक्षित होता है। मृगया की विस्तृत निन्दा करवाकर उसमें अनेक दोषों को सिद्ध किया गया है। कवि की दृष्टि में यह न केवल मात्र वन्य पशुओं की हिंसा की दृष्टि से निन्दनीय है, अपितु दिवस में गर्मी की लू-धूप में भ्रमण का व्यर्थ श्रम, विश्राम का अभाव, समस्त अंगों व अस्थियों के जोड़ों में दर्द उत्पन्न करने वाला व असमय और अपर्याप्त भोजन उपलब्ध कराने के कारण भी दोषपूर्ण है तथा समस्त भौतिक विलासों के परिसाधनों से सम्पन्न राजा दुष्यन्ततुल्य मृगया व्यसनियों के लिए सन्देश भी है कि कोई सबल व समर्थ निर्बल व निरपराध प्राणी पर शस्त्र न उठाए, वस्तुतः अस्त्र-शस्त्र का उपयोग निरपराध की रक्षा के लिए ही किया जाए। इसमें ही सामर्थ्यवान् व सबल के गुणों का आधिक्य व गौरव है। समस्त वन्य प्राणियों में डर, प्रेम, मैत्री, हिंसा, सौन्दर्य आदि हाव-भाव व गुण मानव समान हैं। अतः ये सभी मूक निरपराध प्राणी प्रहार करने वालों से रक्षा किए जाने के योग्य हैं।

वन्य पशुओं की हिंसा व अन्य प्रकार की हिंसा से भरे आज के परिवेश में भी महाकवि कालिदास का **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** के माध्यम से दिया गया अहिंसा का यह सन्देश पूर्ण सामयिक व ग्राह्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर का साधना मार्ग

दुलीचन्द जैन

श्रमण भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्षों तक आत्मा की दिव्य साधना की। सुख, समृद्धि व वैभवगत आसक्तियों को त्याग कर अकिंचन बन वे सत्य की साधना में निरन्तर लीन रहे। उनका दिव्य एवं भव्य संयमी जीवन साधनामय जीवन का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इस जीवन का प्रत्येक पृष्ठ समता, सहिष्णुता, परदुःखकातरता, त्याग, तपस्या, ध्यान और अभय की भावना से ओत-प्रोत था। उन्होंने यह दीर्घ साधना-काल मौन आत्म-चिन्तन, आत्म-पर्यालोचन, उग्र ध्यान एवं उत्कट संयम की आराधना में व्यतीत किया।

इस साधना-काल में उन पर अनेक विपत्तियाँ एवं उपसर्ग आये। प्राकृतिक, मानवीय व दैवी संकटों के प्राणघातक तूफान प्रलयकाल की तरह घिर-घिर कर आये पर वर्द्धमान ने अदम्य साहस, अपराजेय संकल्प व आत्म-बल के सहारे उनका डट कर मुकाबला किया। उन्होंने अपूर्व कष्ट-सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा का आदर्श उपस्थित किया।

त्याग और तपस्या की साधना का इस प्रकार का आदर्श मानव-समाज में और मिलना दुर्लभ है। उनके सम्बन्ध में शास्त्रों में कहा है— "उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स" **आवश्यकनिर्युक्ति** २४० अर्थात् अन्य तीर्थङ्करों की अपेक्षा वर्द्धमान का तप विशेष उग्र था।

उनके साधना-काल का रोमांचकारी वर्णन **आचारांगसूत्र,** प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्याय में मिलता है। गणधर सुधर्मा स्वामी ने उनकी साढ़े बारह वर्ष की साधनाचर्या का बड़ा सजीव, रसप्रद और हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किया है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्याग के कठिन नियमों का परिपालन, अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समभाव, निःस्पृहता, शारीरिक अनासक्ति, विचल ध्यान, योग और अन्तर्लीनता मुखरित है। उस साधनाचर्या का कुछ अंश यहाँ पर प्रस्तुत है।

---

*. मन्त्री, जैन विद्या अनुसन्धान प्रतिष्ठान, चेन्नई.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचेलक अणगार— दीक्षा लेने के समय महावीर के शरीर पर एक श्वेत वस्त्र (देव दूष्य) था। तेरह महीनों के बाद अचेल परिषह के आमन्त्रण रूप में उन्होंने उसे भी त्याग दिया। सर्दी, गर्मी एवं वर्षा के सभी कष्टों को उन्होंने सहन किया। भयंकर सर्दी में भी वे खुले में ही ध्यान करते थे।

अनिकेत-चर्या— महावीर कभी निर्जन झोपड़ी, धर्मशाला, प्याऊ, लुहार की शाला में रहते, कभी मालियों के घरों में, कभी शहर में, कभी श्मशान में रहते तो कभी उद्यान या सूने घर में या वृक्ष के नीचे रात्रि बिताते। ऐसे स्थानों पर रहते हुए वर्द्धमान को नाना प्रकार के उपसर्गों का सामना करना पड़ा। सर्प आदि जीव-जन्तु उन्हें डस जाते, गिद्ध जैसे पक्षी उन्हें काट खाते। दुराचारी मनुष्य उन्हे यातना देते, दुराचारिणी स्त्रियां उन्हें काम-भागों के लिए सतातीं। जार पुरुष उन्हें मारते, पीटते पर वे समाधि में ही तल्लीन रहते तथा वहाँ से चले जाने को कहने पर अन्यत्र चले जाते।

साधना काल का आहार— उनके भोजन के नियम बड़े कठोर थे। निरोग होते हुए भी वे मिताहारी तथा खान-पान में संयमी थे। मान-अपमान में समभाव रखते हुए वे भिक्षाचर्या करते तथा कभी दीनभाव नहीं दिखाते थे। भिक्षा में रूखा-सूखा, ठण्डा-बासी व नीरस जो भी आहार मिलता, वे शान्तभाव से सन्तोष के साथ ग्रहण करते। मात्र शरीर निर्वाह के लिए सूखे भात, मूंग, उड़द का आहार करते। एक बार निरन्तर आठ मास तक वे इसी प्रकार का नीरस आहार करते रहे। रसों में उन्होंने कभी आसक्ति नहीं दिखाई।

देहासक्ति का त्याग— शरीर के प्रति वर्द्धमान की अनासक्तता रोमांचकारी थी। रोग उत्पन्न होने पर भी वे औषधि-सेवन की इच्छा नहीं करते थे। उन्होंने शरीर के विश्राम की कभी आकांक्षा नहीं की। वे दैहिक वासना से सर्वथा मुक्त थे।

निद्रा-विजय— श्रमण वर्द्धमान ने कभी पूरी नींद नहीं ली। जब अधिक नींद सताती तो वे शीत में बाहर निकल थोड़ा घूमकर निद्रा दूर करते। हमेशा सहज-जागृत रहने की चेष्टा करते। वे प्रहर-प्रहर किसी लक्ष्य पर आंखें टिका कर ध्यान करते थे।

अनासक्ति— वे गृहस्थों के साथ कोई संसर्ग नहीं रखते थे, न ही गृहस्थों के गान, नृत्य या संगीत आदि में कोई रुचि रखते थे। ध्यानावस्था में कुछ पूछने पर भी उत्तर नहीं देते थे। वे स्त्री-कथा, भक्त-कथा, राज-कथा तथा देश-कथा में कोई रुचि नहीं लेते थे। यदि शून्य स्थानों में कोई उनसे पूछता कि आप कौन हैं तो वे संक्षिप्त उत्तर देते— "अहमंसि ति भिक्खू" अर्थात् मैं भिक्षु हूँ। न सहन किये जा सके, ऐसे कटु व्यंग्य वचन, निन्दा, व तिरस्कार का भी वे उत्तर नहीं देते थे तथा मौन रहते थे। वे हमेशा निर्विकार, कषाय-रहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तन में समय बिताते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा एवं तितिक्षा— भगवान् ने पल-पल अनुपम अहिंसा और तितिक्षा की साधना की। भिक्षा में जाते हुए अगर कबूतर आदि पक्षी अनाज चुगते दिखाई देते तो वर्द्धमान दूर हट जाते ताकि उनको विघ्न न पहुँचे। यदि वे किसी घर के बाहर किसी ब्राह्मण, श्रमण या भिक्षुक को याचना करते देखते, तो उस घर में नहीं जाते थे ताकि उनकी आजीविका में बाधा पहुँचे। किसी के मन में द्वेष-भाव उत्पन्न होने का वे अवसर ही नहीं देते थे।

दुर्गम विहार-चर्या— भगवान् ने दुर्गम लाढ़ देश की वज्रभूमि और शुभ्र भूमि दोनों में विहार किया। वहाँ उन पर अनेक विपदाएँ आयीं। वहाँ के लोग उन्हें ताड़ित करते-पीटते। उन्हें खाने को रूखा-सूखा आहार मिलता। कुत्ते उन्हें चारों ओर से घेर लेते तथा कष्ट देते। उन अवसरों पर ऐसे लोग विरले ही होते, जो कुत्तों से उनकी रक्षा करते। अधिकांश तो उल्टे भगवान् को ही पीटते तथा ऊपर से कुत्ते लगा देते। ऐसे अवसरों पर भी अन्य साधुओं की तरह उन्होंने दण्ड-प्रयोग नहीं किया। दुष्ट लोगों के दुर्वचनों को उन्होंने क्षमा भाव से सहन किया।

अनुपम चिन्तन, अनुपम तप, अनुपम ध्यान, तितिक्षा, धैर्य आदि के साथ महावीर ने अपना साढ़े बारह वर्षों का साधना-काल व्यतीत किया। उनकी उग्र तपस्या तथा कष्ट-सहिष्णुता के कारण ही लोगों ने उन्हें श्रमण महावीर कहना प्रारम्भ किया।

साधना काल के उपसर्ग— श्रमण वर्द्धमान ने अपने दीर्घ साधना-काल में सारा समय आत्म- चिन्तन तथा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने के उद्यम में बिताया। उन्होंने इस साधना काल में उपदेश नहीं दिया, धर्म-प्रचार नहीं किया, न शिष्य मुण्डित किये तथा न ही उपासक बनाये। उन्होंने ध्यान की अतल गहराइयों में डूबकर जगत् और जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर गम्भीरता से चिन्तन किया।

वर्द्धमान अपने युग के सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाशाली एवं मेधावी पुरुष थे। यह उनकी दीर्घ साधना का ही फल था। शास्त्रों में उन्हें मेधावी (मेहावी), आशुप्रज्ञ (आसुपन्ने) तथा दीर्घप्रज्ञा (दीहपन्ने) बार-बार कहा गया है। उनके नाम के साथ निम्न विशेषण भी मिलते हैं :

दक्खे	—	वे बड़े दक्ष व व्यवहार-कुशल थे।
दक्खपइण्णे	—	वे संकल्प एवं प्रतिज्ञा में दृढ़ थे।
भद्दये	—	वे सरल-भद्र प्रकृति वाले थे।
विणीये	—	वे विनीत थे।

तीर्थङ्कर स्वयंसम्बुद्ध होते हैं। वे अपने स्वयं के पुरुषार्थ से आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं। तीर्थङ्कर महावीर के भी किसी महान् सत्पुरुष से प्रत्यक्ष साक्षात्कार की कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटना नहीं मिलती।

वर्द्धमान को कभी-कभी किन्हीं स्थानों पर ठहरने व ध्यान करने की भी अनुमति नहीं मिलती थी, किन्हीं-किन्हीं गांवों में वे जाते तो उन्हें तुरन्त वापस जाने को कह दिया जाता था। अतः उन्होंने निम्नलिखित नियम लिये —

भविष्य में अप्रीतिकारक स्थान पर नहीं रहूँगा।

ध्यान में सतत् लीन रहूँगा।

सदा मौन रक्खूँगा।

हाथ से ग्रहण करके भोजन करूँगा।

गृहस्थ का विनय नहीं करूँगा।

साधना-काल में उनके जीवन में जो उपसर्ग आए, उनका कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत है —

अभय की उत्कृष्ट साधना— श्रमण वर्द्धमान विहार करते हुए एक छोटे से गाँव "अस्थिक ग्राम" में आये। वहाँ आस-पास का वातावरण बड़ा ही भयावह एवं हृदय को कंपा देने वाला था। गाँव के बाहर शूलपाणि यक्ष का मन्दिर था। एकान्त स्थान देखकर भगवान् ने गाँव वालों से वहाँ ठहरने की अनुमति माँगी। महावीर की दिव्य, सौम्य आकृति को देखकर लोगों के हृदय द्रवित हो गए। उन्होंने कहा— "देव! आप अन्यत्र ठहर जायें। यहाँ एक यक्ष रहता है जो बड़ा क्रूर है। रात में किसी को यहाँ ठहरने नहीं देता। उसे भयंकर यातना देकर मार डालता है।" महावीर यह सुनकर भी डरे नहीं और उन्होंने वहीं ठहरने का संकल्प किया तथा पुनः आज्ञा मांगी।

तब ग्रामवासियों ने महावीर को यक्ष से सम्बन्धित निम्नांकित घटना सुनाई—

"देव! कुछ वर्षों पूर्व की घटना है। यहाँ से धनदत्त नामक व्यापारी पाँच सौ गाड़ियों में सामान लेकर गुजर रहा था। वर्षा के कारण उसकी गाड़ियाँ यहाँ पर कीचड़ में फँस गईं। बैल उनको खींच नहीं सके, पर उसके पास हाथी की तरह बड़ा ही बलवान् एवं पुष्ट कन्धों वाला एक बैल था। उस एक ही बैल ने धीरे-धीरे पाँच सौ गाड़ियों को कीचड़ से निकाल कर बाहर कर दिया, पर अत्यधिक परिश्रम के कारण वह बैल थक कर चूर हो गया तथा भूमि पर गिर पड़ा। व्यापारी ने अनेक प्रयत्न किये पर बैल खड़ा नहीं हो सका। तब व्यापारी ने गाँव वालों को एक बड़ी धनराशि दी तथा बैल की सेवा-परिचर्या का भार उन्हें सौंपकर वह आगे रवाना हो गया। गाँव वाले उस व्यापारी का सारा धन हजम कर गये तथा उन्होंने बैल की कोई सेवा-शुश्रूषा नहीं की, न ही उसे खाने को कुछ दिया। भूखे-प्यासे सन्तप्त बैल ने एक दिन अपने प्राण छोड़ दिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही बैल मर कर शूलपाणि यक्ष बना अब गाँव वालों से अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार का बदला ले रहा है। उसने घर-घर में पीड़ा, त्रास तथा भय का आतंक फैला दिया है तथा सैकड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया है।''

महावीर उनकी कथा सुनकर भी निर्भय बने रहे तथा गाँव वालों से अनुमति लेकर वहीं एकान्त स्थान देखकर ध्यानमग्न हो गए। अर्द्ध रात्रि को यक्ष उस स्थान पर आया तथा एक मनुष्य को निर्भय खड़ा देखकर आग बबूला हो गया। उसने भयंकर अट्टहास किया लेकिन महावीर जरा भी विचलित नहीं हुए। वह यक्ष प्रलयकाल के तूफान की तरह हुंकार करके रौद्र नृत्य करने लगा। लेकिन महावीर फिर भी स्थिर रहे। उसे उन पर अत्यधिक रोष आया। वह उनको तरह-तरह से यातना देने लगा। कभी मदोन्मत्त हाथी की तरह पैरों से रौंदता, कभी गेंद की तरह आकाश में उछालता, कभी बिच्छू की तरह जहरीले डंक मारता तो कभी शिकारी कुत्तों की तरह उनका मांस नोंच डालता। लेकिन महावीर फिर भी स्थिर और अडिग रहे। आखिर उसकी धृष्टता दूर हुई। उसकी दुष्टता महावीर की साधुता से भिड़ कर, टकराकर निस्तेज हो गई। वह हतप्रभ हो गया तथा उसे अपने आप से घृणा हो गई। उसने प्रभु महावीर के समक्ष क्षमा मांगी। महावीर ने उसे अभयदान दिया। प्रातःकाल जब ग्रामवासी आए तो वहाँ पर बड़ा शान्त वातावरण था। यक्ष श्रमण महावीर की उपासना में निमग्न था। पूरा गाँव हर्ष से श्रमण महावीर की विजय-गाथा गाने लगा। (**त्रिषष्टि०**, १०/३)।

अहिंसा की अमृत वर्षा

श्रमण महावीर सुवर्ण बालुका नदी के पास कनकखल नामक आश्रम पाद से गुजर रहे थे। उन्होंने पीछे से आते हुए कुछ ग्वालों की भयाक्रान्त पुकार सुनी। उन्होंने कहा— ''देव! आप रुक जायें, आगे न बढ़ें, इस रास्ते पर एक भयावह काला नाग रहता है, जिसने अपनी विष-ज्वाला से अगणित राहगीरों को भस्मसात कर डाला है। हजारों पशु-पक्षी व पेड़-पौधे उसकी विषाग्नि से जलकर राख हो गए हैं।'' महावीर दो क्षण रुक गए। उन्होंने अपना अभयसूचक हाथ ऊपर उठाया, जैसे संकेत दे रहे हों कि तुम घबराओ नहीं। गाँव वालों ने उन्हें पुनः समझाया पर महावीर धीर-गम्भीर गति से आगे बढ़ते गये। उस नाग की बांबी के पास एक प्राचीन देवालय था, वे वहीं पहुँचकर ध्यानमग्न हो गए।

जंगल में घूमता हुआ वह सर्प अपनी बांबी के पास पहुँचा तथा वहाँ देवालय में एक मनुष्य को निश्चल खड़ा देख आश्चर्यचकित हो गया। साथ ही उसे भयंकर क्रोध भी आया। उसने अपनी विषमयी तीव्र दृष्टि से महावीर की ओर देखा, अग्निपिण्ड से जैसे ज्वालाएँ निकलती हैं वैसे ही उसकी आँखों से तीव्र विषमयी ज्वालाएँ निकलने लगीं। साधारण मनुष्य तो उनसे जलकर खाक हो जाता पर महावीर पर उनका कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाव नहीं पड़ा। उसने बार-बार उन पर प्रहार किया पर महावीर अविचल ध्यान में निमग्न रहे। आखिर उसने एक तीव्र दंश उनके अंगूठे पर मारा। लेकिन यह भी निष्फल ग . . उल्टे वहाँ से दूध की धारा बहने लगी।

महावीर का अब ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होंने चण्डकौशिक को उद्‌बोधन देते हुए कहा— "चंडकौशिक समझो! समझो! अब शान्त हो जाओ। अपना क्रोध शान्त करो।" महावीर के अमृत-वचन सुनकर नागराज का क्रोध पानी पानी हो गया। वह विचारों की गहराई में उतरा तो उसे जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। तीव्र क्रोध के कारण उसने पूर्व जन्मों में कितने-कितने कष्ट उठाये, वह उसे स्मरण हो आया। वह शान्त होकर बार-बार उनके चरणों में लिपटकर क्षमा मांगने लगा। प्रातःकाल गाँव वालों ने यह दृश्य देखा तो वे आश्चर्यचकित हो उठे तथा प्रभु का गुणगान करने लगे।

अहिंसा, अभय और मैत्री का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है (**त्रिषष्टि० , १०/३**)।

साधना की अग्निपरीक्षा— साधना का ग्यारहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ। श्रमण महावीर ने श्रावस्ती में वर्षावास किया। यहाँ पर ध्यान एवं योग की अनेक प्रक्रियाओं द्वारा उन्होंने साधना को और भी प्रखर बनाया। तीन दिन का उपवास करके श्रमण महावीर पेढ़ाल उद्यान में कायोत्सर्ग मुद्रा तथा उत्कृष्ट ध्यान-प्रतिमा में लीन थे। उनके तन-मन व प्राण अकम्प तथा स्थिर थे। उसी समय एक देव संगम उनकी अग्निपरीक्षा लेने आ पहुँचा। एक ही रात्रि में उस देव ने श्रमण महावीर को इतनी यातनाएँ दीं; इतने प्राणघातक कष्ट दिये कि वज्र-हृदय भी दहल जाये; किन्तु परमयोगी महावीर का एक रोम भी प्रकम्पित नहीं हुआ।

महावीर ध्यान की सर्वतोभद्र प्रतिमा में लीन थे। अचानक सायं-सायं की आवाज से दिशाएँ काँप उठीं। भयंकर धूल भरी आंधी से महावीर के शरीर पर मिट्टी के ढेर जम गए पर महावीर ने अपने निश्चय के अनुसार आँखों की पलकें भी बन्द नहीं कीं।

आँधी शान्त हुई कि तीक्ष्ण मुख वाली चींटियाँ चारों ओर से महावीर के शरीर को काटने लगीं। तन छलनी सा हो गया पर मन वज्र सा दृढ़ रहा।

तभी मच्छरों का समूह महावीर के शरीर को काट-काट कर उनका रक्त चूसने लगा। फिर दीमकें महावीर के पूरे शरीर पर लिपट गईं तथा भयंकर दंश मारकर काटने लगीं। पर महावीर विचलित नहीं हुए।

फिर बिच्छुओं द्वारा तीव्र दंश प्रहार किया जाना, नेवलों द्वारा मांस नोचा जाना, विषधर सर्पों द्वारा स्थान-स्थान पर डंक मारा जाना तथा तीखे दाँत वाले चूहों द्वारा उनके शरीर को काटा जाना आदि प्रारम्भ हुए पर वे सर्वथा अकम्पित, अविचलित बने रहे।

इस प्रकार के बीस घोर उपसर्ग महावीर पर आये पर संकल्प के धनी महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी स्थिति से, अपनी नासाग्र दृष्टि से तिल भर भी डिगे नहीं। आखिर दुष्ट संगम का अहंकार चूर हुआ और उसने महावीर से क्षमा मांगी। प्रातःकाल महावीर की ध्यान साधना पूर्ण हुई और वे प्रसन्न मन से आगे विहार को बढ़े (**आवश्यकनिर्युक्ति**-गाथा ३९२)।

कानों में कील— साधना-काल के तेरहवें वर्ष में श्रमण महावीर छम्माणि गांव के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे। उसी समय खेतों में काम करता हुआ एक ग्वाला वहाँ अपने बैल लेकर आया। श्रमण को देखकर बोला— "देव! जरा मेरे बैलों की देखभाल करना, मैं थोड़ी देर में आता हूँ। यह कहकर वह वहाँ से गाँव चला गया।

थोड़ी देर में वह वापस आया तो उसे बैल नहीं मिले। वे चरते-चरते कहीं दूर निकल गए थे। उसने महावीर से पूछा— "देव! मेरे बैल कहाँ गये?" महावीर तो मौन-ध्यान में तल्लीन थे। उत्तर कहाँ से देते। इस पर वह ग्वाला आग बबूला हो गया। उसने फिर पूछा— 'ऐ ढोंगी बाबा! तुझे कुछ सुनाई देता है या नहीं?" महावीर ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने कहा— "अच्छा, मैं तेरे कानों की चिकित्सा करता हूँ।" आवेश में मूढ़ ग्वाला जंगल में गया और वहाँ से किसी वृक्ष की दो पैनी लकड़ियाँ ली और महावीर के कानों में ठोंक दी। उन्हें असह्य मरणान्तिक वेदना हुई पर उन्होंने उफ तक नहीं किया। वे महाश्रमण तब भी ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर वे अमध्यमा नगरी पधारे तथा सिद्धार्थ वणिक के घर गोचरी ली। वणिक ने उनके कानों में कीलों को देखा तो वह दुःख से काँप उठा। उसने तुरन्त खरक नामक वैद्य को बुलाया। उसने कानों से कीलें निकालीं। भगवान् को असह्य वेदना हुई। उनके मुख से एक भयंकर चीख निकल गई। खरक ने कानों में औषधि एवं तेल का मर्दन किया, जिससे उनके घाव कुछ दिनों में भर गए।

साधक जीवन की यह मानो अन्तिम वेदना थी, अन्तिम कड़ी थी, जो अब समाप्त हो गई (**त्रिषष्टि०**, २०/४)।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यन्त्र, मन्त्र एवं साधना विधि

*डॉ० महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज'**

मन्त्र की शक्ति अतुल है। दुनिया की ऐसी कोई ऋद्धि-सिद्धि नहीं है जो मन्त्र द्वारा प्राप्त न की जा सके। महामन्त्र णमोकार में से ही समस्त मन्त्रों के बीजाक्षर निष्पन्न हुए हैं। मन्त्र, अक्षर अथवा अक्षरों का समूहरूप होता है। कहा है— 'निर्बीजमक्षरं नास्ति', अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं है जिसमें शक्ति न हो। शब्द की शक्ति अपरिमित है और उसका अनुभव हमें अपने जीवन में होता रहता है। पद, पदार्थ और पदों के योजक की आध्यात्मिक शक्ति का समन्वय ही मन्त्र है। ये तीनों जैसे होते हैं, मन्त्र की शक्ति भी वैसी ही होती है।

साधना की सफलता मन्त्र, उसका प्रयोग और प्रयोक्ता की साधना पर निर्भर करती है। यदि मन्त्र ठीक नहीं है, वह किसी सच्चे साधक द्वारा प्रयुक्त न होकर किसी ठग द्वारा प्रयुक्त किया गया है, अथवा मन्त्र अशुद्ध है, उसकी अक्षर-योजना ठीक नहीं है, अथवा अक्षर-योजना ठीक होते हुए भी उसका उच्चारण ठीक नहीं— अशुद्ध पाठ किया गया है, या पाठ शुद्ध होते हुए भी जप करने वाले का चित्त एकाग्र नहीं है, उसमें उसकी श्रद्धा नहीं है तो मन्त्रशक्ति कार्यकारी नहीं हो सकती।

मन्त्र साधना

जैसे बिना शक्ति का कोई अक्षर नहीं, उसी तरह— 'नास्ति मूलमनौषधम्' ऐसी कोई वनस्पति नहीं जो औषधि रूप न हो। आवश्यकता ऐसे जानकार योजक की है जो विभिन्न वनस्पतियों के मेल से विभिन्न रोगों की औषधि का निर्माण कर सके और ऐसे प्रयोक्ताओं की आवश्यकता है जो रोगी के अनुरूप उसको प्रयोग करने की सलाह वगैरह दे सके, साथ ही रोगी सच्ची आस्थापूर्वक औषधि का सेवन कर सके, तब उसका फल सामने आयेगा ठीक इसी तरह मन्त्र के विषय में है। कुशल मन्त्र-योजक, मन्त्र-प्रयोक्ता और श्रद्धायुक्त मन्त्र-साधक। बल्कि औषधि से अधिक सावधानी मन्त्र के विषय में बरतने की आवश्यकता है।

मन्त्रशक्ति दुधारी तलवार है, वह रक्षक भी है और संहारक भी। यदि तलवार

*. बी० ३/३७, भदैनी, वाराणसी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का ठीक ढंग से प्रयोग किया जावे तो स्वामी की रक्षा करती है, शत्रु को मार डालती है और अनजान आदमी उठाकर घुमाने लगे तो उसी का संहार कर डालती है। पूर्ण जानकारी के अभाव में सफलता कम, विघ्न बहुतों को उपस्थित होते हैं।

मन्त्र देवाधिष्ठित होते हैं और साधक मन्त्र की साधना द्वारा उनके अधिष्ठाता देवों को वश मे करने की चेष्टा करता है। अत: इस क्रिया में वही सफल हो सकता है जो अपने को देवता से भी अधिक शक्तिशाली मानता हो और यह आत्मविश्वास हो कि देवता नहीं, देवता का पिता भी आये तो वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किन्तु जो देवता के नाम से घबराते हैं, स्वयं को उनका गुलाम समझते हैं और समझते हैं कि देवता बड़े शक्तिशाली होते हैं, वे यदि उन्हें वश में करने के लिए चलें तो देवता उन्हें न डरायें तो भी वे स्वयं ही अपनी कमजोरी के कारण डरे बिना नहीं रह सकते। (**नमस्कार महामन्त्र**— पं०कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पृष्ठ १२)।

मुमुक्षुओं के लिए मन्त्र-तन्त्र आदि की सिद्धि का निषेध किया गया है; क्योंकि यह मुनियों को दूषित करता है। वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, उच्चाटन, जल, अग्नि, विष आदि का स्तम्भन करना, सेना का स्तम्भन करना, विद्या को छेदने का विधान साधना, वेधना, वैद्यकविद्यासाधन, यक्षिणी मन्त्र, पाताल सिद्धि के विधान का अभ्यास करना, मृत्यु को जीतने की मन्त्र-साधन करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन को देखने के लिये अंजन की साधना, भूत साधना, सर्प साधना इत्यादि को जो मुनि होकर आजीविका का साधन बनाते हैं, धनोपार्जन करते हैं वे अत्यन्त निन्द्य व नरकगामी कहे गये हैं। परन्तु जिन मुनियों को चोरों से उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओं से पीड़ा हुई हो, दुष्ट राजा से कष्ट पहुँचा हो, नदी द्वारा रोके गये हों, भारी रोग से पीड़ित हो गये हों, तो उनका उपद्रव विद्यादिकों से नष्ट करना चाहिए, इसमें दोष नहीं है। (**मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र— आचार्य आदिसागरअभिनन्दनग्रन्थ,** पृष्ठ १२६)

मन्त्र साधना विधि

यह सही है कि ऐसी कोई ऋद्धि-सिद्धि नहीं है जो मन्त्र साधना से प्राप्त न की जा सके; किन्तु मन्त्र-सिद्धि के लिए मन्त्र-साधन की ठीक-ठीक विधि की जानकारी होना आवश्यक है। मन्त्र की शुद्धता, मन्त्र का प्रकार, किस राशि वाले को कौन से तत्त्वीय बीजाक्षर वाले मन्त्रों की अनुकूलता, मन्त्र के अनुसार पश्चिम-नैऋत्य आदि दिशा, प्रभात-मध्याह्न आदि समय, शंख-वज्र आदि मुद्रा, पद्म-भद्र आदि आसन, श्वेत-लाल आदि वस्त्र, श्वेत-पीत आदि पुष्प, पूरक-कुम्भक आदि योग, स्फटिक-मूँगा आदि की माला, दक्षिण-वाम हस्त, मध्यमा-अनामिका आदि अंगुली, जल-पृथ्वी आदि मण्डल और सीधा-वाम स्वर का ज्ञान परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त योग, उपदेश, देवता, सकलीकरण पंचोपचार और जप-होम की विधि का वेत्ता होना भी अनिवार्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठ कर्म

मन्त्रों के मुख्यत: आठ कार्य हैं। इन्हीं आठ कार्यों के लिए मन्त्रों का प्रयोग और साधना की जाती है। वे हैं— शान्तिकर्म, पौष्टिककर्म, वश्यकर्म, आकर्षणकर्म, स्तम्भनकर्म, उच्चाटनकर्म, विद्वेषणकर्म और अभिचारकर्म।

शान्तिकर्म, ज्वर रोगादि की शान्ति के लिए श्वेत वस्त्र धारण कर श्वेत यन्त्रोद्धार करके, उसकी पूजा करके, पश्चिम की ओर मुख करके, पद्मासन, ज्ञानमुद्रा में, अर्द्धरात्रि के समय, पूरक योग में, सीधा स्वर, श्वेत (स्फटिक) माला, दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली से १०८ बार शान्ति मन्त्र जपने का विधान है।

पौष्टिक कर्म के लिए भी श्वेत वस्त्र, श्वेत यन्त्रोद्धार, सूरिज्ञानमुद्रा, स्वस्तिक या पद्मासन, प्रभात समय, पूरक योग, जलमण्डल, सीधा स्वर, उत्तर दिशाभिमुख होकर, दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली से मोती की माला द्वारा जप करने का विधान है। आकर्षण कर्म के लिए रक्तवर्ण यन्त्रोद्धार, लाल वस्त्र, दक्षिणाभिमुख, दण्डासन, कुशमुद्रा, वाम स्वर, पूरक योग, अग्नि पल्लव, बाएँ हाथ की कनिष्ठिका अंगुली से लाल माला द्वारा प्रभात के समय जप करने से कार्य सिद्धि कही गई है।

स्तम्भन कर्म में हरितालादि पीतवर्ण यन्त्रोद्धार, पीले वस्त्र, शंखमुद्रा, वज्रासन, पूर्व दिशाभिमुख, ठ: ठ: पल्लव, कुम्भक योग, पृथ्वी मण्डल, सीधा स्वर, दाहिने हाथ की कनिष्ठिका अंगुली से स्वर्ण माला द्वारा जप करने की विधि निर्दिष्ट है। उच्चाटन कर्म में कृष्ण वर्ण से यन्त्रोद्धार, प्रवालमुद्रा, कुक्कुटासन, फट् पल्लव, धूम्र (काले) वर्ण के वस्त्र, वायुमण्डल, रेचक योग, सीधा स्वर, वायव्य दिशाभिमुख, दाहिना हाथ, तर्जनी अंगुली, पुत्रजीवमणी की (काली) माला बताई गई है। विद्वेषण कर्म के लिए आग्नेय दिशा, मध्याह्न समय हुं पल्लव और शेष सब उच्चाटन के समान निर्देश है। अभिचार कर्म के लिए सर्व विषमिश्रित उन्मत्त रसों से यन्त्रोद्धार, कृष्ण वस्त्र, ईशान दिशाभिमुख, वज्र मुद्रा, भद्रासन, घेघे पल्लव और शेष सब उच्चाटन कर्म के समान निर्देशित हैं। इसका समय संध्याकाल बताया गया है।

योग

मन्त्र साधक और मन्त्र के आदि अक्षर से नक्षत्र, तारा और चन्द्र की अनुकूलता ज्योतिष से मिला लेना चाहिए। यदि विरोध न हो तो समझना चाहिए कि मन्त्र सिद्ध होगा। इसी को योग कहते हैं।

जिस मन्त्र की साधना करनी है उस मन्त्र के अक्षरों के तीन गुणित करके अपने नाम के अक्षरों को उसमें मिला दें। उस संख्या को १२ से भाग दें। यदि शेष संख्या ५-९ बचे तो मन्त्र सिद्ध होगा, ६-१० बचे तो देर से सिद्ध होगा, ७-११ बचे तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा होगा और ८-१२ बचे तो सिद्ध नहीं होगा, ऐसा जानना चाहिए। अत: विपरीत होने से सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

विपरीत मन्त्र को अनुकूल करने के लिए (जो मन्त्र धनात्मक हो) मन्त्र के आदि में— 'ह्रीं, श्रीं, क्लीं' इनमें से एक कोई बीजाक्षर ले आवें, तब वे सब दोष मिट जाते हैं। वह सिद्धि हो सकता है। साधक को यह भी ध्यान रखना होता है कि उच्चाटन-विद्वेषण आदि क्रूर स्वभावी मन्त्रों के अन्त में 'नमः' जोड़ देने से वह मन्त्र शान्त स्वभावी हो जाता है और यदि शान्ति-पुष्टि कारक शान्त स्वभावी मन्त्र के अन्त में 'फट्' पल्लव लगा दिया जाय तो वह क्रूर स्वभावी हो जाता है।

उपदेश

पुस्तक में मन्त्र लिखा है, तो भी मन्त्र विधि जानने वाले गुरु से अवश्य पूछ लेना चाहिए; जिससे कि सन्देह न रहे। यह उपदेश है। मन्त्र छपने में या लिखने में कई तरह की अशुद्धियाँ हो जाती हैं, शुद्ध लिखा होने पर कभी-कभी शुद्ध उच्चारण नहीं हो पाता है। ऐसे में की गई साधना का परिणाम निरर्थक या भयावह हो सकता है।

देवता

शुद्ध सम्यग्दृष्टि २४ तीर्थङ्करों में से किसी का भी जप करें तो उनके सेवक यक्ष या यक्षिणी उस साधक की मनोवांछित सिद्धि में सहायक होते हैं। २४ तीर्थङ्करों के जो सेवक हैं, उनका तख्ता इनके साथ है। ये यक्ष और यक्षिणी जिनमत की सेवा करते हैं। रोहिणी आदि विद्या देवताओं के प्रभाव से विद्याधर मनुष्य होकर भी देवों के समान सुख भोगते हैं। (आ०महा०स्मृ०ग्रन्थ, पृष्ठ १४८)।

सकलीकरण

मन्त्र साधने के पहले सकलीकरण क्रिया अवश्य करनी चाहिए। विद्यासाधन करने के इच्छुक को इष्टकार्य की निर्विघ्न सिद्धि के लिए अपनी रक्षा करने को सकलीकरण क्रिया कहते हैं। रक्षामन्त्र से मन्त्रित बैठने के स्थान के चारों ओर से सरसों की रेखा खींची जाती है, जिससे इसके अन्दर किसी व्यन्तरादि का प्रवेश नहीं हो पाता। फिर मण्डल विधान के समय का सामान्य सकलीकरण करके निम्नलिखित मन्त्र से सभी दिशा द्वारों को बाँधा जाता है—

"ॐ नमो भगवति पद्मावति अक्षिकुक्षिमंडिनी उत वासिनी आत्मरक्षा, पररक्षा, पिशाचरक्षा शाकिनीरक्षा चौररक्षा पूर्वद्वारं बंधामि य ॐ ठ: ठ: स्वाहा।"

यह मन्त्र पढ़कर पूर्व परिधि द्वार (दिशा) में पीला सरसों क्षेपित किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह मन्त्र पढ़कर मन्त्र में आये 'पूर्व द्वारं' के स्थान पर क्रमशः आग्नेयद्वारं, दक्षिणद्वारं, नैऋत्यद्वारं, पश्चिमद्वारं, वायव्यद्वारं, उत्तरद्वारं, ईशानद्वारं, अधोद्वारं, ऊर्ध्वद्वारं, वक्रं और सर्वग्रहान् बोलते हुए तत्तद् दिशा में सरसों क्षेपित किया जाता है। पूर्व और दक्षिण के बीच का कोना आग्नेय दिशा, दक्षिण और पश्चिम का कोना नैऋत्य दिशा, पश्चिम और उत्तर के बीच का कोना ईशान दिशा कहलाती है। इस प्रकार सकलीकरण करके फिर पंचोपचार विधि से यन्त्र की पूजा करना चाहिए।

पाँच उपचार

मन्त्र स्वामी देवता के पाँच उपचार हैं— आह्वानन, स्थापन, साक्षात्करण, अष्टद्रव्य से पूजन और विसर्जन। आह्वानन मन्त्र के साथ अत्र अवतर अवतर बोलते समय पहले दोनों हाथों को हृदय के सामने करके जोड़े, फिर दोनों हाथों की अनामिका (छोटी ऊंगली के पास की) उंगली की जड़ (हथेली तरफ से पहले पोरुए) पर अंगूठा रखें, सीधे हाथ करके हृदय के सामने आगे को करके फैलाते जाएँ, पूर्ण फैलाते हुए अवतर बोलें। स्थापन के लिए पुनः हाथ मुकुलित, तर्जनी की जड़ पर अङ्गुष्ठ, इस बार हाथ उल्टे अर्थात् हथेली नीचे की ओर, हृदय के समानान्तर आगे को हाथ फैलाते हुए 'ठः ठः' बोलें। साक्षात्करण के लिए हृदय के सामने कुछ दूर हाथ जोड़ें, फिर दोनों मुट्ठियाँ बाँधें, अङ्गुष्ठ बाहर निकले रहने दें, 'संवौषट्', या 'वषट्' बोलते हुए मुट्ठी बँधे हुए हाथों के दोनों अँगूठे हृदय से लगाएँ। विसर्जन करते समय 'स्व स्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः' अवश्य बोलना चाहिए। आह्वानन पूरक योग से, विसर्जन रेचक योग से और शेष कर्म कुम्भक योग से करना चाहिए। पूरक में श्वाँस अन्दर खींची जाती है, रेचक में श्वाँस बाहर छोड़ी जाती है और कुम्भक में श्वाँस अन्दर रोकी जाती है।

जप, होम

मन्त्र के जप की संख्या सामान्य रीति से १०८ अथवा १००८ कही गयी है, किन्तु मन्त्र विशेषों की संख्या उद्देश्य के अनुसार अलग-अलग भी कही गई है।

जप तीन प्रकार से किया जाता है— प्रथम मानस जप, दूसरा उपांशु जप और तीसरा भाष्य जप। जो जप मन ही मन में किया जाता है उसे मानस जप कहते हैं। उपांशु जप उसे कहते हैं अन्तर्जल्परूप हो और जिसे कोई सुन न सके। इसमें मन्त्र के शब्द मुख से बाहर नहीं निकलते, कण्ठ स्थान में ही गूँजते रहते हैं। इन तीनों में सबसे उत्तम मानस जप है, मानस जप से नीचे उपांशु जप है और उपांशु जप से निकृष्ट भाष्य जप है। मन्त्र को मुँह से बोलते हुए जपने को भाष्य कहते हैं।

प्रारम्भ में भाष्य जप किया जाता है, मन्त्रों को मुख से बोलकर जपने से साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मन उसी में लगा रहता है। उसके पश्चात् उपांशु जप करना चाहिए और इसका ठीक अभ्यास होने पर मानस जप (तो श्रेष्ठ है ही) करना चाहिए। इसमें जप का स्थान कण्ठ न होकर हृदय देश होता है। हृदय में ही मन्त्र का चिन्तन चलता रहता है। यह मानस जप ही अभ्यास बढ़ने पर ध्यान का रूप ले लेता है।

जप से मन्त्र अपनी पूरी शक्ति को प्राप्त होता है और होम पूजा आदि से उसका स्वामी देवता तृप्त होता है। एक तो स्वयं अग्नि, फिर उसे हवा की सहायता मिल जाय तो क्या नहीं कर सकती। इसी तरह पहले तो मन्त्र फिर वह जप होम सहित हो तो क्या नहीं कर सकता।

आज के समय मन्त्र साधना के लिए एकान्त स्थान में मन्त्र जपना अयोग्य कहा है; क्योंकि यदि कोई व्यन्तर भय दिखाता है तो साधक उसको सहन नहीं कर सकता है; कारण कि हम संहनन हीन हैं और शक्ति अल्प है। एकान्त में जपने वालों के भ्रष्ट हो जाने की अधिक सम्भावना है। मन्त्र को मन्दिर जी में या अपने किसी एकान्त स्थान में रात्रि में (या मन्त्र के साथ बताई गई बेला में) दीपक जलाकर जपना चाहिए और एक आदमी अपने पास रखना चाहिए, इससे साधना में सहायता मिलती है और निर्विघ्न सिद्धि होती है।

होम की विधि हमने 'जिनालय प्रतिष्ठा विधि' पुस्तक में विस्तार से दी है। होम के समय मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' बोलना चाहिए। जिस मन्त्र का जाप किया जाता है उस मन्त्र की जाप संख्या से दशवाँ अंश उस मन्त्र की होम में आहुतियाँ दीं जातीं हैं।

जपमाला

जाप की संख्या बताने के लिए सीधा सरल उपाय है माला। यह सूत्र, चन्दन, मूँगे, स्फटिक, स्वर्ण, पुत्रजीवमणि, मोती आदि की हो सकती है। माला साफ सुथरी अवश्य हो। प्रायः माला दाहिने हाथ के अँगूठें पर रखकर मध्यमा-अनामिका अँगुलियों से फेरते हैं। हाथ हृदय के सामने रखा जाता है। माला नाभि के अधिक नीचे तक न लटके। घुटने, पाँव या पलोटी पर रखकर माला नहीं फेरना चाहिए।

शान्तिक पौष्टिक (शुभ) कार्य के लिए स्फटिक माला दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली से फेरने का निर्देश है। वश्य-आकर्षण के लिए मूँगा (प्रवाल) की माला, बाएँ हाथ से। वश्य में अनामिका और आकर्षण में कनिष्ठिका अंगुली प्रयोग की जाती है। स्तम्भन के लिए स्वर्ण की माला दाहिने हाथ की कनिष्ठिका से और विद्वेषण, उच्चाटन, अभिचार कार्य के लिए पुत्रजीवमणि (काली) माला दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली से जपने का निर्देश है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सावधानी

वर्तमान में यन्त्र-मन्त्र देने वालों की बहुतायत हो गई है। किसी भी कैलेण्डर, पुस्तिका, पत्रक, जन्त्री आदि में कई चमत्कारी मन्त्रों को देखा जा सकता है; लेकिन छोटे-छोटे से मन्त्रों में भी कई अशुद्धियाँ देखीं गईं हैं। ऐसे में अशुद्ध मन्त्र के जाप से निष्फलता के साथ-साथ विपरीत परिणाम की भी सम्भावना रहती है। किसी मन्त्र साधना के लिए पूर्ण विधि की जानकारी होना नितान्त आवश्यक है। एक सामान्य बात यह अवश्य ध्यान में रखी जाती है कि जिस मन्त्र के अन्त में 'नमः' शब्द (इसे पल्लव कहते हैं) आता (लगा) हो वह कदाचित् अशुद्ध भी हो तो भी दुष्परिणाम होने की आशंका नहीं रहती; किन्तु जिस मन्त्र के अन्त में 'वषट्', 'वौषट्' 'ठः ठः', 'घे घे', 'हुँ' और 'फट्' पल्लव लगा हो उसे पूर्ण जानकारी के अभाव में जपना नहीं चाहिए, अन्यथा किसी भी त्रुटि से भयंकर दुष्परिणाम हो सकता है।

यन्त्र

कुछ विशिष्ट प्रकार के अक्षर, शब्द व मन्त्र रचना जो कोष्ठक आदि बनाकर उनमें चित्रित किए जाते हैं, यन्त्र कहलाते हैं। मन्त्र शास्त्र के अनुसार इनमें कुछ अचिंत्य शक्ति मानी गयी है। इसीलिए जैन सम्प्रदाय में इन्हें पूजा व विनय का विशेष स्थान प्राप्त है। मन्त्र सिद्धि, पूजा, प्रतिष्ठा व यज्ञ-विधान आदि में इनका बहुलता से प्रयोग किया जाता है। अनेक यन्त्रों का निर्माण प्रयोजनवश उनकी विधि के अनुसार किया जाता है। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश)।

यन्त्रों से लाभ प्राप्त करने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। दुकान के दरवाजे और दीपावली के समय यन्त्र लिखने की प्रथा प्रायः देखने में आती है। मन्त्र साधन या मण्डल विधान के समय दिशाबन्धन के लिए हाथ में यन्त्र बनाते हैं। मुनि दीक्षा के समय आचार्य दीक्षार्थी के हाथों और सिर पर यन्त्र लिखते हैं। यदि यन्त्र विधिपूर्वक लिखा जाय तो प्रसव-पीड़ा भोग रही स्त्री को यन्त्र दिखाने मात्र से प्रसव हो जाता है। किसी को डाकिनी-शाकिनी सताती हो तो यन्त्र को दिखाने मात्र से उसे आराम हो जाता है, इत्यादि चमत्कारपूर्ण यन्त्र हैं। मन्त्र साधना के समय बीजाक्षर लिखकर यन्त्र समक्ष रखने का निर्देश है। इससे मन्त्र साधना के समय विघ्न-बाधाएँ नहीं आतीं हैं। मन्दिर या मकान की नीव में मातृका यन्त्र अवश्य रखना चाहिए।

यन्त्र लेखन में लेखन सामग्री, दिशा, दिन, आचार-विचार, कलम की लम्बाई, अंकों के पहले और बाद में लिखने का क्रम, किस तरह के मन्त्र के लिए कौन सा आकार आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। यन्त्र, यन्त्र लेखन विधि के अच्छी तरह से जानकार व्यक्ति से ही लिखवाना या लेना चाहिए।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारण्ड पक्षी

भँवरलाल नाहटा

जीव-जन्तुओं के विविध भेदों का जैसा वर्णन जैनागमों में वर्णित है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। चौरासी लाख जीवं योनि में चार लाख त्रिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय बतलाये गये हैं। त्रिर्यञ्च योनि के जलचर, स्थलचर और खेचर वर्ग में भारण्ड पक्षी चर्म पक्षी जाति का भीमकाय पक्षी है। नर लोक का यह पक्षी समस्त पक्षियों में सर्वाधिक शक्तिशाली है। मनुष्य लोक जो जम्बद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध तक सीमित है, तदतिरिक्त असंख्य द्वीप समुद्र स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त है। उनमें समुद्र पक्षी और वितत पक्षी होने का उल्लेख **जीवविचारप्रकरण** में 'समुग्ग पक्खी अवियय पक्खी' रूप से बतलाया गया है। जैन साहित्य में "मृग पक्षी शास्त्र" नामक अद्भुत् रचना भी उपलब्ध है। इसमें दिगम्बर विद्वान् पं० हंसराज ने संस्कृत में पशु-पक्षियों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। यह अपने ढंग का अद्वितीय ग्रन्थ है।

पशु-पक्षी हमारे राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं। मयूर तो हमारा राष्ट्रीय पक्षी माना जाता है। शिकार प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त महत्त्वशाली पशु-पक्षियों की जाति ही नष्ट होकर नाम शेष होती जा रही है। गिरनार के सिंह एवं आसाम प्रान्त के मूल्यवान् गैंडे अल्पसंख्या में रह गये हैं और क्रमशः तेजी से कम होते जा रहे हैं। जिराफ का अस्तित्व भूतकाल में भारत में भी था, जिसका चित्र जैसलमेर के **श्री जिनभद्र सूरि ज्ञान भण्डार** में है। अब वह अफ्रीका में ही रह गया है। आडी और वन कुक्कुट का नामोल्लेख संस्कृत-प्राकृत साहित्य में पाया जाता है। आचार भ्रष्ट वेशधारियों के लिए उन्हें उपमा दी जाती है कि वे न तो साधु हैं और न श्रावक ही, यतः

आडीए मयणमत्ताए, सेविओ वण कुक्कुडो।
तेण सो पिल्लओ जाओ, ना आडी न च कुक्कडो।।

अर्थात् मदनोन्मत्त आडी ने वन कुक्कुट से संगम किया, जिसके फलस्वरूप जो पिल्ला हुआ वह न तो आडी है न कुक्कुट, अर्थात् वर्णसंकर है। इस प्रकार संसार का विचित्र स्वरूप है।

यहाँ हमें एक ऐसे ही भीमकाय भारण्ड पक्षी का परिचय कराना अभीष्ट है जो

---

*. ४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता ७०० ००७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि आज लुप्त हो गया है किन्तु उसकी अनेक विशेषताएँ शास्त्रों में वर्णित हैं, जिससे दो हजार वर्ष पूर्व भारत में उसका अस्तित्व प्रमाणित है।

भारण्ड पक्षी में अनेक विशेषताएँ थीं, जो बड़ी विलक्षण थीं। वह अपने विशाल पंजों से पकड़ कर बड़े से बड़े पशुओं/मानवों आदि को आसानी से ले उड़ता था। वत्स देश के महाराजा शतानीक की रानी मृगावती को ले जाकर मलयाचल के वन में गिरा देने का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। महोपाध्याय समयसुन्दरजी ने **मृगावतीचौपाई** में अपने समय की चित्रकारी की अभिव्यक्ति देते हुए भारण्ड पक्षी के चित्र का भी वर्णन किया है जो इस प्रकार है—

भला नइं भारण्ड पक्षी चीतर्या रे, एक उदर गाबड़ि दोय रे।
जुगति भखइ फल जूजुआ रे, जीव जुदा बेउ होय रे।
चतुर चीतारो रूप चीतरे रे राजमहल तणी भीत रे।।

यह वर्णन कौशाम्बी के राजमहल में भारण्ड पक्षी के चित्र का है। हमारे संग्रह में और ज्ञान भण्डारों में भारण्ड पक्षी के चित्र सम्प्राप्त हैं। **कल्पसूत्रवृत्ति** में कुमारनन्दी स्वर्णकार के पंचशैलद्वीप जाने का साधन भारण्ड पक्षी ही था।

विक्रमचरित्रादि कथा साहित्य के अनुसार भारण्ड पक्षी की विष्टा का नेत्राञ्जन करने पर नेत्रान्ध व्यक्ति भी दिन में तारे देखने योग्य दृष्टि पा जाते थे। कथा साहित्य में प्राप्त प्रचुर उदाहरणों को यहाँ प्रस्तुत करने का न स्थान है, न प्रसंग ही है।

भारण्ड पक्षी की शरीर रचना विशेष प्रकार की थी, इसकी देह में दो जीवात्माओं का निवास रहता था। उदर एक होते हुए भी चोंच-मुख दो थे। पञ्चेन्द्रिय जीव के 'दसहा जियाण पाणा इंदिय उसासाउ जोग बल रूवो' अर्थात् (१०) दस प्राण होते हैं। भारण्ड पक्षी के दो जीवात्मा होने पर भी मन एक होता है अतएव उसके उन्नीस प्राण होते हैं, ऐसा उल्लेख जैन शास्त्रों में पाया जाता है। यह पक्षी अपनी अप्रमत्त दशा और सतत् जागरूकता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। जैन शास्त्रों में जिनेश्वर भगवान् की अप्रमत्त दशा और सतत् जागरूकता के कारण उनका वर्णन करते हुए लौकिक दृष्टान्तों में भारण्ड पक्षी का उपमा-सादृश्य बतलाया गया है। दो जीवात्मा वाला भारण्ड पक्षी मन एक होने से शरीर व्यापार- उदरपूर्ति बड़ी ही सतर्कता से युक्तिपूर्वक करता था, क्योंकि दोनों मुख से यदि एक साथ ही भक्षण करे तो वह आहार उसके गले में फँस कर उसकी मृत्यु का कारण बन जाये। यह पक्षी मांसाहारी और मनुष्य की भाषा बोलने वाला था और इसके तीन पांव होते थे। आज के युग में प्रचलित दो इंजन वाले हवाई जहाज/विमान से इसकी आकृति की कल्पना की जा सकती है।

वसुदेवहिण्डी नामक छठी शताब्दी में निर्मित ग्रन्थ के पृष्ठ २४९ में भारण्ड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्षी का उल्लेख है। उसमें रत्नद्वीप से आने वाले पक्षी का इस प्रकार वर्णन है—

किसी व्यापारी का काफिला अपना माल क्रय-विक्रय करने के लिए प्रवास करता हुआ अजपथ देश में आता है। अजपथ वह है जहाँ बकरों पर आरूढ़ होकर प्रवास किया जाता है। बकरों की आँख पर पट्टी बांधकर अजपथ पहुँचते हैं और वज्रकोटि स्थित पर्वतोल्लंघन करने पर सख्त ठण्ड के कारण बकरों का खून जम जाता है। आंख की पट्टी खोलकर बकरों को मार डालते हैं और उनकी चमड़ी के बड़े-बड़े मशक बनाते हैं, फिर छूरी लेकर प्रवासी लोग उसमें प्रविष्ट होकर भीतर से मशक बन्द कर लेते हैं। इस पर्वत पर भारण्ड पक्षी आहार के लिए रत्नद्वीप से आते हैं और मशक को मांस पिण्ड समझकर ले उड़ते हैं और रत्नद्वीप ले जाकर रखते हैं। अन्दर वाला मनुष्य तुरन्त छूरी से मशक को काटकर बाहर निकल पड़ता है। वह रत्नों का प्रचुर संग्रह करके पुन: मशक में प्रविष्ट हो जाता है और भारण्ड पक्षी उसे उसी प्रकार उठा कर पर्वत पर ले आता है।

उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ४, गाथा ६, **ज्ञातासूत्र** श्रुतस्कन्ध १, अध्याय ५, **स्थानाङ्ग सूत्र** ठा० ९, **कल्पसूत्रकिरणावली** आदि ग्रन्थों के उल्लेख एक से हैं और उनमें दो जीवों के एक पेट, दो ग्रीवा-जीभ-मुख, तीन पांव और मनुष्य की बोली बोलने वाला बतलाया गया है। उनमें उसके अप्रमत्त गुण का वर्णन किया है जबकि एक-सी गाथा देकर पारस्परिक असहयोग से भारण्ड पक्षी के नाश होने का वर्णन **पञ्चतन्त्र** के पांचवें तन्त्र 'अपरीक्षित कारक' में किया है। **पञ्चतन्त्र** का उल्लेख इस प्रकार है—

एक सरोवर में एक पेट और जुदे-जुदे मस्तक वाला एक भारण्ड पक्षी रहता था। उसने समुद्र तट पर भ्रमण करते हुए समुद्र तरंगों में प्रवाहित होकर आने वाले अमृत फलों को प्राप्त किया। भारण्ड ने एक मुख से खाकर फलों का रसास्वादन किया। फलों की मधुरता का वर्णन सुनकर दूसरे मुख ने कहा— थोड़ा स्वाद मुझे भी चखने दो। भारण्ड के पहले मुख ने कहा— अपना पेट तो एक ही है अत: मेरे खाने से तृप्ति तुम्हें भी हो गई फिर खाने से लाभ क्या? कहते हुए अवशिष्ट फल उस मुख को न देकर भारण्डी को दे दिया। मधुर स्वाद न पाने वाला दूसरा मुंह हमेशा उद्विग्न रहने लगा। एक बार दूसरे मुख को कहीं से विष फल मिल गया। उसने अमृत फल खाने वाले मुंह से कहा— निर्दयी! अधम! तुम मेरी उपेक्षा करते हो। अब मुझे यह विष फल मिला है, जिसे खाकर मैं अपमान का बदला लूँगा। भारण्ड के प्रथम मुख ने कहा— मूर्ख! ऐसा न करो, अपने दोनों मर जावेंगे। द्वितीय मुंह ने उसकी बात न मानकर प्रतिशोध की भावना से विष फल खा लिया, जिससे दोनों मर गये।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने **देशीनाममाला,** वर्ग ६, श्लोक १०८ में एवं **अनेकार्थसंग्रह** काण्ड ३, श्लोक १७३ में भारण्ड पक्षी का नामोल्लेख करके **पञ्चतन्त्र**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत गाथा की अर्द्धाली उद्धृत की है।

हेमचन्द्राचार्यकृत **त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्रगत** नेमिनाथचरित्र में वणिक् चारुदत्त द्वारा 'टंकण' पहुंच कर अजपथ द्वारा स्वर्णभूमि जाने के उल्लेख में बकरे की उल्टी खाल की मशक में भारण्ड पक्षी द्वारा ले जाना वर्णित है।

अरब के उपन्यासों में सिन्दबाद की जो कहानी आती है वह भी भारण्ड पक्षी जैसे किसी भीमकाय पक्षी से सम्बन्धित है और **वसुदेवहिण्डी** की कथा से उसका आशय बहुत कुछ एक-सा है। सिन्दबाद ने विश्व भ्रमण किया था। वह कहता है— मैं एक बार जहाज में बैठकर किसी द्वीप में गया, खाना-पीना करके मैं सो गया। सभी सहयात्री मुझे सोया हुआ छोड़कर चले गये। मैं नींद से जगकर इधर-उधर घूमता हुआ एक बड़े भारी अण्डे के पास पहुँचा। इतने में ही वहां एक भीमकाय पक्षी आकर उतरा, उसका पैर विशाल वृक्ष की जड़ जैसा था। मैं अपनी पगड़ी से उसके पैरों के साथ बंध गया। पक्षी उड़ कर पहाड़ की तलहटी में गया। मैंने वहां उतर कर बड़े-बड़े हीरों का संग्रह किया और थैले में भर लिए। वहां सामने की पहाड़ी से व्यापारी लोगों ने मांस का पिण्ड फेंका था जिस पर अनेक हीरे चिपक गए थे। मैं उस मांस के पिण्ड को अपनी पीठ पर डाल कर सो गया। भीमकाय पक्षी ने आकर मुझे उठा लिया और पहाड़ पर लाकर रखा। व्यापारियों ने पक्षी को उड़ा दिया और मुझसे हीरे मांगे। मैंने उन्हें अपने बड़े-बड़े हीरे तो नहीं दिये पर मांस पर चिपके हुए छोटे हीरे उन्होंने ले लिये।

इस कथा में भारण्ड पक्षी के दो मस्तकादि लक्षणों का अभाव होते हुए भी रत्न प्राप्ति की कथारूढ़ि एक-सी है। अमेरिका में अब भी ऐसे भीमकाय पक्षी पाये जाते हैं जिनका फैलाव ३० फुट तक हो जाता है। शिल्प-स्थापत्य में भी भारण्ड पक्षी की आकृति उत्कीर्णित की जाती थी। भगवान् ऋषभदेव के तक्षशिला पधारने पर उनके पुत्र बाहुबलि द्वारा प्रभु के कायोत्सर्ग स्थान पर स्तूप निर्माण कराने का उल्लेख जैन साहित्य में प्राप्त है। समय-समय पर इसके जीर्णोद्धार होने के बावजूद भी जो अन्तिम रूप तक्षशिला (पाकिस्तान) में विद्यमान है उसकी बर्हिवर्ती दीवाल के तोरण पर भारण्ड पक्षी का चित्र उत्कीर्ण है वह निश्चित ही जैन शिल्प का प्रतिनिधित्व करने वाला है। इसका चित्र **जैनजर्नल,** भाग ६ के प्रथम अंक में प्रकाशित है।

इस प्रकार एक ऐतिहासिक किन्तु काल के प्रभाव से लुप्त पक्षीराज भारण्ड का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्भव है मनुष्य क्षेत्र के बर्हिवर्ती द्वीपान्तरों में यह पक्षी विद्यमान भी हो। जैसे कि आज भीमकाय पशु-पक्षियों के अवशेष भूगर्भ से खुदाई में प्राप्त होते हैं, कहीं से प्राप्त हो तो शोधकर्ता अधिकारी विद्वान् उस पर विशेष प्रकाश डालेंगे। स्थापत्य और प्राचीन चित्रादि के आधार से यथास्मृति एक रेखाचित्र मैंने अपने पुत्र पदम से अंकित कराया है, जो यहाँ दिया जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरकप, तक्षशिला में स्तूप पर अंकित भारण्ड पक्षी

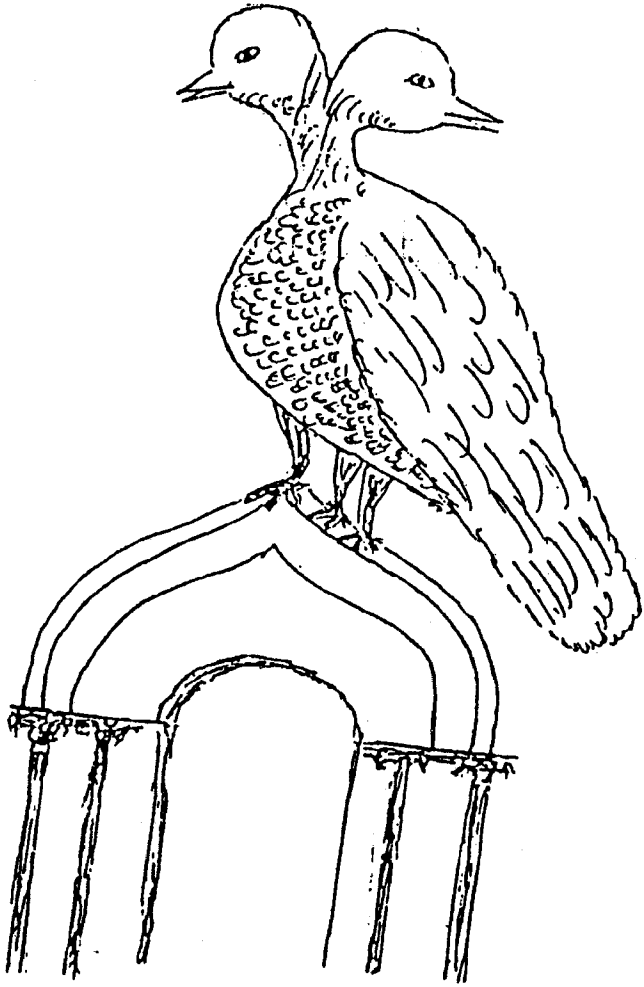

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा की परिधि में पर्यावरण सन्तुलन

*डॉ० पुष्पलता जैन**

अहिंसा धर्म है, संयम है और पर्यावरण निसर्ग है, प्रकृति है। प्रकृति की सुरक्षा हमारी गहन अहिंसा और समय साधना का परिचायक है। प्रकृति का प्रदूषण पर्यावरण के असन्तुलन का आवाहक है और असन्तुलन अव्यवस्था और भूचाल का प्रतीक है अत: प्राकृतिक सन्तुलन बनाए रखना हमारा धर्म है, कर्तव्य है और आवश्यकता भी। अन्यथा विनाश के कगारों पर हमारा जीवन बैठ जाता है और कटी हुई पतंग-सा लड़खड़ाने लगता है। यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सत्य है।

प्राचीन ऋषियों, महर्षियों और आचार्यों ने इस प्रतिष्ठित तत्त्व को न केवल भली-भाँति समझ लिया था बल्कि उसे उन्होंने जीवन में उतारा भी था। वे प्रकृति के रम्य प्राङ्गण में स्वयं रहते थे, उसका आनन्द लेते थे और वनवासी होकर स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति की सुरक्षा किया करते थे। जब कभी प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ा, विपत्तियों के अम्बार ने हमारे दरवाजे पर दस्तक दी और तब भी यदि हम न सम्भले तो मृत्यु का दुःखद आलिंगन करने के अलावा हमारे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं बचेगा। शायद यही कारण है कि हमारे पुरखों ने हमें "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का पाठ अच्छी तरह से पढ़ा दिया जिसे हमने गांठ बांधकर सहेज लिया।

प्रकृति वस्तुत: जीवन की परिचायिका है। पतझड़ के बाद वसन्त और वसन्त के बाद पतझड़ आती है। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख का चक्र एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। वनस्पति और पशु-पक्षी प्राणी जगत् प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। उनकी सौन्दर्य-अभिव्यक्ति जीवन की यथार्थता है। वसन्तोत्सव हमारे हर्ष और उल्लास का प्रतीक बन गया है। कवियों और लेखकों ने उसकी उन्मादकता को पहचाना है, सरस्वती की वन्दना कर उसका आदर किया है और हल जोतकर जीवन के सुख का संकेत दिया है। इसका तात्पर्य है कि पर्यावरण का सम्बन्ध पशु-पक्षी और वनस्पति तथा मानव के साथ अनुस्यूत रूप में जुड़ा हुआ है।

---

*. अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस०एफ०एस० कालेज, न्यू एक्सटेंशन एरिया सदर, नागपुर, ४०० ००१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति प्रदत्त सभी वनस्पतियाँ भी सांस लेती हैं, कार्बन डाई-आक्साइड के रूप में और सांस छोड़ती हैं आक्सीजन के रूप में। इसलिए बाग-बगीचों का होना स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। पेड़-पौधों की यह जीवन प्रक्रिया हमारे जीवन को सम्बल देती है, स्वस्थ हवा और पानी देकर तथा आवाहन करती है जीवन को संयमित और अहिंसक बनाए रखने का। सारा संसार जीवों से भरा हुआ है और हर जीव का अपना-अपना महत्त्व है। उनके अस्तित्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। उनमें सुख-दुःख के अनुभव करने की शक्ति होती है। जैनागमों में मूलतः स्थावर और त्रस ये दो प्रकार के जीव बतलाये गये हैं। स्थावर जीवों में चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती, ऐसे जीव पाँच प्रकार के होते हैं— (१) पृथ्वीकायिक, (२) अप्कायिक, (३) वनस्पतिकायिक, (४) अग्निकायिक और (५) वायुकायिक। दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। जैनशास्त्रों में इन जीवों के भेद-प्रभेदों का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरता है। इन सब जीवों का गहरा सम्बन्ध पर्यावरण से है।

हमारे चारों ओर की भूमि, हवा और पानी ही हमारा पर्यावरण है। इनसे हमारा पुराना सम्बन्ध है लेकिन इससे भी अधिक पुराना सम्बन्ध है पौधों और जानवरों से। हमारे लिए सारे जानवर और पौधे जरूरी हैं। उनके बिना हमारा जीवन सुसंचालित नहीं हो सकता। यह पर्यावरण जीव-जन्तुओं और पेड़ पौधों के कारण ही जीवन्त है। उनकी हिंसा करने पर प्रकृति भी अपनी प्रतिक्रिया दिखलाती है। आज के भौतिक वातावरण में विज्ञान की चकाचौंध में हम अज्ञानवश अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अपने प्राकृतिक पर्यावरण को दूषित कर रहे हैं। प्रकृति का सन्तुलन डगमगाने लगा है। उसकी सादगी और पवित्रता कुचली जा रही है, नष्ट हो रही है। इसका मूल कारण है हमारी असंयममूलक तृष्णा और प्रबल आशा का संचरण। हमने वन, उपवन को नष्ट-भ्रष्ट कर ऊँची-ऊँची अट्टालिकायें बना लीं, बड़े-बड़े कारखाने स्थापित कर लिए जिनसे हानिकारक रसायनों और गैसों का निर्झरण हो रहा है, उपयोगी पशु-पक्षियों और कीड़ों-मकोड़ों को समाप्त किया जा रहा है। वाहनों आदि से ध्वनि प्रदूषण, गन्दगी, कूड़ा-कचड़ा आदि बहा देने से जल प्रदूषण और गैसों से वायु प्रदूषण हो रहा है। हम अपने क्षणिक लाभ के लिए सारी प्राकृतिक सम्पदा को असन्तुलित करने के दोषी बन रहे हैं।

कुछ प्रदूषण प्रकृति से होता है पर उसे प्रकृति ही स्वच्छ कर देती है। जैसे पेड़-पौधों की कार्बन डाई आक्साइड सूर्य की किरणों से साफ होकर आक्सीजन में बदल जाती है। हमारा बहुत सारा जीवन इन्हीं पेड़-पौधों पर अवलम्बित है। वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धान के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि अलग-अलग तरह के पेड़-पौधों की पत्तियाँ विभिन्न गैसों आदि के जहर, धूल आदि से जूझकर पर्यावरण को स्वच्छ रखती हैं। जंगल कट जाने से वर्षा कम होती है, आबहवा बदल जाती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूखा पड़ता है, बाढ़ आती है, गर्मी अधिक होती है। वन्य जीव भी इसी तरह हमारी भौतिकता के शिकार हो रहे हैं। अनेक उपयोगी जानवर, पक्षी और कीड़ों को हम समाप्त कर रहे हैं। इस कारण हमारा जीवन विनाश की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है। यदि हमने पर्यावरण की सुरक्षा और प्रदूषण की मात्रा कम नहीं की तो पर्यावरण जहरीला होकर हमारे जीवन को तहस-नहस कर देगा। नई-नई बीमारियों से हम त्रस्त हो जाएंगे। पर्यावरण की रक्षा वस्तुत: हमारा विकास है। उदाहरण के तौर पर काई, आम, पीपल, बरगद आदि पेड़-पौधे वातावरण की गन्दी हवा को छानकर और स्वयं जहर का घूँट पीकर हमें स्वच्छ हवा और प्राणवायु देते हैं। इसी तरह आम, सूर्यमुखी, चौलाई, कनकौना, गौर, सनई आदि भी गन्दी हवा दूर करके हमारी सेवा करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसन्धान के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि पर्यावरण का असन्तुलन हिंसाजन्य है और यह हिंसा तब तक होती रहती है जबतक हमें आत्मबोध न हो। आत्मतुला की कसौटी पर कसे बिना व्यक्ति न तो दूसरे के दुःख को समझ सकता है और न उसके अस्तित्व को स्वीकार कर पाता है। कदाचित् यही कारण है कि आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम ग्रन्थ का प्रारम्भ शस्त्रपरीक्षा से करके हमें अस्तित्व बोध कराया गया है। यह अस्तित्व बोध अहिंसात्मक आचार-विचार की आस्था का आधार स्तम्भ है। अहिंसा के चार मुख्य आधारस्तम्भ हैं— आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। प्राकृतिक पर्यावरण और नैतिक पर्यावरण, दोनों की सुरक्षा के लिए इन चारों मापदण्डों का पालन करना आवश्यक है। इन चारों की पृष्ठभूमि में अहिंसा-दर्शन प्रहरी के रूप में खड़ा रहता है।

दिशा-दृष्टि से दूर पड़ा हुआ व्यक्ति "जीवो जीवस्य भोजनम्" मानकर स्वयं की रक्षा के लिए दूसरे का अमानुषिक वध और शोषण करता है, प्रशंसा, सम्मान, पूजा, जन्म-मरण मोचन तथा दुःख प्रतिकार करने के लिए वह अज्ञानतापूर्वक शस्त्र उठाता है और सबसे पहले पृथ्वी और पेड़-पौधों पर प्रहार करता है जो मूक हैं, प्रत्यक्षत: कुछ कर नहीं सकते, परन्तु ये मात्र मूक हैं इसलिए चेतनाशून्य हैं और निरर्थक हैं यह सोचना वस्तुत: हमारी मृत्यु का कारण बन सकता है जिसे महावीर ने कहा— "एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु निरए" (आ० १.२५)। यह मोह हमारी प्रमाद अवस्था का प्रतीक है। इसी से हम पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा करते हैं। इन स्थावर जीवों में भी प्राणों का स्पन्दन है, उनकी चेतना सतत् मूर्च्छित और बाहर से लुप्त भले ही लग रही हो पर उन्हें हमारे अच्छे-बुरे भावों का ज्ञान हो जाता है और शस्त्रच्छेदन होने पर कष्टानुभूति भी होती है। भगवतीसूत्र (१९.३५) में तो यह कहा गया है कि पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर वृद्ध पुरुष से कहीं अधिक अनिष्टतर वेदना का अनुभव करता है। इतिहास यह बताता है कि जो पृथ्वी के गर्भ में करोड़ों साल पहले जीवों का रूप छिपा रहता है जो फासिल्स (जीवाश्म) के रूप में हमें प्राप्त हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, पृथ्वी के निरर्थक खोदने से उनके टूटने की सम्भावना हो सकती है और साथ ही पृथ्वी के भीतर रहने वाले जीवों के वध की भी जिम्मेदारी हमारे सिर पर आ जाती है।

जैनधर्म के अनुसार पृथ्वी सजीव है, सशरीरी है— संति पाणा पुढो सिया (आचा०, १.१६)। सर्वार्थसिद्धि (२.१३) में पृथ्वी के चार भेद बताए गए हैं— पृथ्वी, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकाय और पृथ्वीजीव। मूलाचार (गाथा २०६-०९) में पृथ्वी के ३६ भेद बताये गये हैं— मिट्टी, बालू, पत्थर, लोहा, तांबा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, मणि आदि। इन सभी के बारे में जैन साहित्य में काफी सामग्री भरी पड़ी हुई है। जैनधर्म में पृथ्वीकाय की ही हिंसा वर्जित है। यदि व्यक्ति इस हिंसा से विरत होता है तो खनन आदि के कारण जो पर्यावरण प्रदूषण या आपत्तियों की सम्भावना बढ़ती है वह कम हो सकती है।

इसी तरह जलकायिक जीव होते हैं जिनकी हिंसा न करने के लिए हमें सावधान किया गया है। क्षेत्रीय आधार पर जल में कीड़े उत्पन्न होने को तो सभी ने स्वीकार किया है पर जल के रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों की स्वीकृति जैन दर्शन में ही दिखाई देती है इसलिए उत्सेचन (कुँए से जल निकालना), गालन (जल छानना), धोवन (जल से उपकरण आदि धोना) जैसी क्रियाओं को जलकाय के शस्त्र के रूप में निर्दिष्ट किया है। ऐसी हिंसा व्यक्ति के अहित के लिए होती है, अबोधि के लिए होती हैं (तं से अहिताए, तं से अबोहीए)। इसीलिए जैनधर्म में जल गालन और प्रासुक जलसेवन को बहुत महत्त्व दिया गया है। साथ ही यह भी निर्देश दिया गया है कि जो पानी जहाँ से ले आयें, उसकी बिलछावनी धीरे से उसी में छोड़नी चाहिए ताकि उसके जीव न मर सकें। "पानी पीजे छानकर, गुरु कीजे जानकर" कहावत स्वच्छ पानी के उपयोग का आग्रह करती है।

प्रज्ञापना (११.२१-२८, तथा ८.७) में जल कायिक जीवों के दो भेद निर्दिष्ट हैं— सूक्ष्म और वादर। ओस, हिम, ओले, शुद्धोदक, शीतोदक, क्षारोदक आदि बादर जल कायिक जीव हैं जो पृथ्वी के नीचे कुएं नदी, सरोवर आदि में रहते हैं। इन जल प्रकारों में औषधियाँ भी मिली रहती हैं जो स्वास्थ्य के लिए हितकर होती हैं। यदि जल प्रदूषित हुआ तो उसका प्रभाव व्यक्ति के स्वास्थ्य पर निश्चित ही पड़ने वाला है। अनर्थदण्ड नामक व्रतपालन के माध्यम से साधक जल को प्रदूषित होने से तथा उसे अनावश्यक बहाने से बचाता है। दूषित पानी निश्चित ही हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। पीलिया और पोलियो जैसे वायरस रोग, दस्त, हैजा, टाइफाइड जैसे बैक्टिरिया रोग और सूक्ष्म जीवों व कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग दूषित-प्रदूषित जल के उपयोग से ही होते हैं। एक बूँद पानी में हजारों जीव रहते हैं यह भी एक वैज्ञानिक तथ्य है। इसलिए व्यर्थ पानी बहाना भी अनर्थ दण्ड में गिना जाता है। आज के प्रदूषित पर्यावरण में नदियों और समुद्रों का जल भी उपयोगिता की दृष्टि से समुद्री जीवों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तित्व खतरे में पड़ गया है और उसमें रहने वाले खाद्य शैवाल (काई), लवण आदि उपयोगी पदार्थ दूषित हो रहे हैं। अनेक जल संयन्त्रों के खराब होने का भी अन्देशा हो गया है।

अग्नि में भी जीव होते हैं जिन्हें हमें मिट्टी, जल आदि डालकर प्रमादवश नष्ट कर डालते हैं। वायु कायिक जीव भी इसी तरह हमसे सुरक्षा की आशा करते हैं। आज का वायु प्रदूषण हमें उस ओर अप्रमत्त और अहिंसक रहने का संकेत करता है।

जैनागम में यह स्थापना की गई है कि अग्नि से ऊष्म शक्ति उत्पन्न होती है। प्रकाश शक्ति है, इसलिए उसका अस्तित्व है। मिट्टी, बालू आदि से उसे बुझाया जा सकता है। यह बुझाना भी हिंसा है (आव०नि०,गाथा १२३-२४, ति०प० ५-२७८-८०), अंगार, विद्युत, मणि, ज्वाला आदि में अग्निकायिक जीव रहते हैं। इसी तरह वायुकायिक जीव भी एकेन्द्रिय हैं। पंखा, ताड़पत्र, चामर आदि से इन जीवों का विनाश होता है (आव०नि०, गाथा १७०)। हम जानते हैं, जैन श्रमणाचार के अनुसार वह न बिजली जलाता है और न पंखा आदि चलाता है (आव० १.७.४९, मूला० ५.१५, दस० ४.७)। मौनव्रत, ईर्या समिति आदि के माध्यम से वायुमण्डल को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है।

वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा आज सर्वाधिक बड़ी समस्या बनी हुई है। पेड़-पौधों को काटकर आज हम उन्हें व्यर्थ ही जलाते चले जा रहे हैं। वे मूक-बधिर अवश्य दिखाई देते हैं पर उन्हें हम आप जैसी कष्टानुभूति होती है। पेड़-पौधे जन्मते, बढ़ते और म्लान होते हैं। भगवतीसूत्र के सातवें-आठवें शतक में स्पष्ट कहा गया है कि वनस्पतिकायिक जीव भी हम जैसे ही श्वासोच्छवास लेते हैं। शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म आदि सभी ऋतुओं में कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से भी यह कथन सत्य सिद्ध हुआ है। प्रज्ञापना (२२ से २५ सूत्र) में वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार बताये गये हैं और उन्हीं का विस्तार अंगविज्जा आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों के उद्धरणों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि तुलसी जैसे सभी हरे पौधे और हरी घास, बांस आदि वनस्पतियाँ हमारे जीवन के निर्माण की दिशा में बहुविध उपयोगी हैं।

जैनधर्म वनस्पति में भी चेतना के अस्तित्व को प्रारम्भ से ही स्वीकार करता है जिससे आधुनिक विज्ञान भी सहमत है। पौधे अपनी हिंसा से भयभीत हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। इसलिए जैनधर्म वनस्पति-जगत को काटने में हिंसा मानता है और उससे विरत रहने का निर्देश देता है (आ० १.५.८२, मूला० ५-२३, दस० ४-८)। उसके अनुसार वृक्ष, कन्दमूल आदि प्रत्येक वनस्पति हैं, पृथक्-पृथक् शरीर वाले हैं और मूली, अदरक आदि को साधारण वनस्पति माना जाता है जिनमें अनन्त जीव रहते हैं। पर्यावरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सुरक्षित रखने की दृष्टि से जैनधर्म में इन सभी की हिंसा वर्जित मानी गयी है।

यह एक विश्वजनीन सत्य है कि पदार्थ में रूपान्तरण प्रक्रिया चलती रहती है। "सद्द्रव्य लक्षणम्" और "उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तम् सत्" सिद्धान्त सृष्टि संचालन का प्रधान तत्त्व है। रूपान्तरण के माध्यम से प्रकृति में सन्तुलन बना रहता है। पदार्थ पारस्परिक सहयोग से अपनी जिन्दगी के लिए उर्जा एकत्रित करते हैं और कर्म सिद्धान्त के आधार पर जीवन के सुख-दुःख के साधन संजो लेते हैं। प्राकृतिक सम्पदा को असुरक्षित कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर हम अपने सुख-दुःख की अनुभूति में यथार्थता नहीं ला सकते। अप्राकृतिक जो भी होगा, वह मुखौटा होगा, मिलावट के अलावा और कुछ नहीं। प्रकृति का हर तत्त्व कहीं न कहीं उपयोगी होता है। यदि उसे उसके स्थान से हटाया गया तो उसका प्रतिफल बुरा भी हो सकता है। ब्रिटेन में मूँगफली की फसल अच्छी बनाने के लिए मक्खी की सृष्टि को नष्ट किया गया फिर भी मूँगफली का उत्पादन नहीं हुआ, क्योंकि वे मक्खियाँ, मूँगफली के पुष्पों के मादा और नर में युग्मन करती थीं। सर्प आदि अन्य कीड़े-मकोड़ों आदि के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

पर्यावरण का सम्बन्ध मात्र प्राकृतिक सन्तुलन में ही नहीं है बल्कि आध्यात्मिक और सामाजिक वातावरण को परिशुद्ध और पवित्र बनाए रखने के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है। इस कथन की सिद्धि के लिए हम जैन-बौद्ध-वैदिक आदि परम्पराओं में मान्य उन चैत्य और बोधि वृक्षों का उल्लेख कर सकते हैं जिनके नीचे बैठकर तीर्थंकरों, बुद्धों और ऋषि-महर्षियों ने ज्ञान प्राप्त किया था। इतना ही नहीं, जैन तीर्थंकरों के चिन्हों को भी पर्यावरण से जोड़ा जा सकता है। संक्षेप में यदि कहा जाए तो धर्म ही पर्यावरण का रक्षक है और नैतिकता उसका द्वारपाल।

आज हमारे समाज में चारों ओर अनैतिकता और भ्रष्टाचार सुरसा की भाँति बढ़ रहा है। चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो या शिक्षा का, धर्म का क्षेत्र हो या व्यापार का, सभी के सिर पर पैसा कमाने का भूत सवार है माध्यम चाहे कैसा भी हो इससे हमारे सारे सामाजिक सम्बन्ध तहस-नहस हो गए हैं। भ्रातृत्व भाव और प्रतिवेशी संस्कृति किनारा काट रही है, आहार का प्रकार मटमैला हो रहा है, शाकाहार के स्थान पर अप्राकृतिक खान-पान स्थान ले रहा है। मिलावट ने व्यापारिक क्षेत्र को सड़ी रबर की तरह दुर्गन्धित कर दिया है। अर्थलिप्सा की पृष्ठभूमि में बर्बरता बढ़ रही है। प्रसाधनों की दौड़ में मानवता कूच कर रही है। इन सारी भौतिक वासनाओं की पूर्ति में हम अपनी आध्यात्मिक संस्कृति को भूल बैठे हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं के बीच समन्वय खत्म हो गया है। हमारी धार्मिक क्रियायें मात्र बाह्य आचरण का प्रतीक बन गयी हैं। परिवार का आदर्श जीवन समाप्त हो गया है, ऐसी विकट परिस्थिति में अहिंसा के माध्यम से पर्यावरण को सन्तुलित बनाए रखने की साधना को पुनरुज्जीवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना नितान्त आवश्यक हो गया है।

जैन श्रावकाचार के अनुसार न्यायपूर्वक अर्जन, माता-पितादि की सेवा, धर्मश्रवण, जितेन्द्रियता आदि गुण श्रावक में होना चाहिए। पाक्षिक श्रावक आठ मूल गुणों का पालन करता है— पञ्चाणुव्रत तथा मद्य, मांस, मधु त्याग, इन अष्टमूलगुणों का पालन करता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान करने वाला सभी व्यसनों से निर्मुक्त होता है। इसी सन्दर्भ में जैन साहित्य में अहिंसा और सदाचार का काफी विस्तार से वर्णन मिलता है। यज्ञ, बलि आदि जैसी कर्मकाण्डीय क्रियाओं और त्रिमूढताओं से दूर रहने का भी आह्वान किया गया है। इसी तरह नैष्ठिक श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करता है और नैतिक प्रदूषण से बचता/बचाता है।

एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य को स्वास्थ्य के सबसे बुरे शत्रु के रूप में निर्दयी 'शोर' से संघर्ष करना पड़ेगा। यह ध्वनि प्रदूषण उद्योग-धन्धों, मशीनों, परिवहन और मनोरंजन के साधनों द्वारा उत्पन्न हो रहा है जिसे संयमित किया जा सकता है। परिमाण व्रत के पालन करने से।

पर्यावरण का यह विकट आन्तरिक और बाह्य असन्तुलन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जबरदस्त क्रान्ति लायेगा। यह क्रान्ति अहिंसक हो तो निश्चित ही उपादेय होगी पर यह असन्तुलन और बढ़ता गया तो खूनी क्रान्ति होना भी असंभव नहीं है। जहाँ एक दूसरे समाज के बीच लम्बी-चौड़ी खाई हो गयी हो, एक तरफ प्रासाद और दूसरी तरफ झोपड़ियाँ हो, एक ओर कुपच और दूसरी ओर भूख से मृत्यु हो तो ऐसा समाज बिना वर्ग संघर्ष के कहाँ रह सकता है? सामाजिक समता की प्रस्थापना और वर्ग संघर्ष की व्यथा-कथा को दूर करने के लिए अहिंसक समाज की रचना और पर्यावरण की विशुद्धि एक अपरिहार्य साधन है। यही धर्म है और यही संयम है और यही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण का सार है—

एवं खु णाणिणो सारं जं हिंसइ ण कंचणं।
अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणि या।।

(सूत्रकृतांग, १.१.४.१०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरकोष में शिवतत्त्व

*ओमप्रकाश सिंह**

कोष साहित्यिक परम्परा की निधि है। लेखक उसमें अपने समय तक संवर्धित विचारधारा और सांस्कृतिक तथ्यों को शब्दों में गूंथ देता है। समय की शिला पर इसी परिवेश में नये-नये शब्दों का निर्माण होता है और सांस्कृतिक अभ्युत्थान की सीढ़ियां निर्मित होती रहती हैं। इस दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में कोष परम्परा का अनूठा महत्त्व है।

वैदिक, जैन और बौद्ध वाङ्मय में इस प्रकार की कोष-परम्परा काफी समृद्ध रही है। यदि हम उसके बीज को खोजने का प्रयत्न करें तो हमे ये बीज बड़ी आसानी से वेदों, उपनिषदों, संहिताओं, जैनआगमों और पालि ग्रन्थों में उपलब्ध हो सकते हैं। टीकाओं और अट्ठकथाओं में विशेष रूप से ऐसे एकार्थक और अनेकार्थक शब्द मिलते हैं जो अपने आपमें कोष की संरचना कर देते हैं। यहाँ हम समूचे कोषों की चर्चा नहीं करना चाहेंगे, परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि कोष वाङ्मय निश्चित रूप से हमारी सांस्कृतिक धरोहर का काम करता है।

अमरकोष ऐसी ही कोष-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। इसे "त्रिकाण्डकोष नामलिङ्गानुशासन और 'देवकोष' के नाम से भी जाना जाता है। संस्कृत कोष वाङ्मय में भोगीन्द्र, कात्याययन, वाचस्पति, वररुचि, रुद्र, अमरदत्त, गङ्गाधर, वाग्भट्ट, धनञ्जय, श्रीधर सेन आदि आचार्यों के शब्दानुशासन और कोष ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं पर उनमें अमरसिंह का **अमरकोष** एक विशेष महत्त्व रखता है। तीन काण्डों में विभाजित इस कोष में स्वर्ग, व्योम, दिक्, काल, धी, शब्द, नाट्य, पाताल, भोगि, नरक, वारि, भूमि, पुर, शैल, वनौषधि, सिंह, मनुष्य, ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय और लिङ्गादिसंग्रह शीर्षक वर्गों में विभक्त हैं। इन वर्गों का यदि सांस्कृतिक अध्ययन किया जाये तो विपुल सामग्री उपलब्ध हो सकती है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर लगभग इकतालिस व्याख्यायें लिखी गयी हैं जो उसकी लोकप्रियता को द्योतित करती हैं।

---

*. पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरकोषकार अमरसिंह किस धर्म के अनुयायी थे यह एक पहेली बनी हुयी है। वैदिक सम्प्रदाय के विद्वान उन्हें वैदिक मानते हैं तो कुछ विद्वान् बौद्ध सम्प्रदाय का निश्चित करते हैं और कतिपय विचारक उनको जैन मानकर चलते हैं। इस सन्दर्भ में मेरी मान्यता है कि अमरसिंह को जैनधर्म का अनुयायी होना चाहिए। इस तथ्य के पोषण में हम निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं।

उपलब्ध प्रतियों में मङ्गलाचरण के रूप में निम्न श्लोक मिलता है जो जैन वाङ्मय में बड़ा लोकप्रिय हुआ है और जिसमें अक्षय आदि जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है—

यस्य ज्ञानदयासिन्धोरगाधस्यानद्या गुणाः।
सेव्यतामक्षयो धीराः स श्रिये चामृताय च।। अमरकोष, १.१

२. शोलापुर निवासी स्व० रावजी सखाराम दोशी ने **अमरकोष** से सम्बन्द्ध पुस्तक की भूमिका में उपर्युक्त मङ्गलाचरण के पूर्व निम्नलिखित दो और श्लोक उद्धृत किये हैं जो तीर्थङ्कर शान्तिनाथ के स्तुति के द्योतक हैं। ये श्लोक वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

जिनस्य लोकत्रयवन्दितस्य प्रक्षालयेत्पादसरोजयुग्मम्।
नखप्रभादित्यसरित्प्रवाहैः संसारपङ्कं मयि गाढलग्नम्।।

नमः श्रीशान्तिनाथाय कर्मारति विनाशिने।
पञ्चमश्चक्रिणां यस्तु कामस्तस्मै जिनेशिने।।

३. इन तीनों श्लोकों का भावानुवाद जैन कवि वादीभसिंह कृत **गद्यचिन्तामणि** में भी देखा जा सकता है।

४. प्रथम काण्ड के ८-११ श्लोक तक अमरसिंह ने कुछ ऐसे देवी-देवताओं का उल्लेख किया है जो जैन शासन में स्वीकृत हो चुके हैं।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त ग्रन्थ के गहन अध्ययन करने पर और भी प्रमाण संकलित किये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जायेगा कि अमरसिंह वस्तुतः जैनधर्मानुयायी थे।

जहाँ तक **अमरकोष** में शिव तत्त्व खोजने का प्रश्न है वह भी सकारात्मक है। कोष में साधारण तौर पर उन सभी शब्दों का संकलन कर दिया जाता है जो कोषकार के समय तक स्वीकृत हो जाते हैं चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों। इस दृष्टि से **अमरकोष** का अध्ययन करने के बाद यह पता चलता है कि कोषकार ने शिव वाचक सभी नामों को संग्रहीत किया है जो उनके समय तक प्रचलित हो चुके थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि का समय साधारण तौर पर आठवीं शताब्दी माना जाता है पर उनके ग्रन्थ के अन्तरावलोकन से यह समय एक-दो शताब्दी और भी आगे बढ़ सकता है— शिव तत्त्व के सन्दर्भ में निम्नलिखित श्लोक विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं—

शंभुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।
ईश्वरः सर्व ईशानः शंकर चन्द्रशेखरः।।
भूतेशः खण्ड परशुः गिरीशो गिरिशो मृडः।
मृत्युञ्जयः कृतिवासाः पिनाकी प्रथमाधिपः।।
उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालभृत्।
वामदेवो महादेवो विरुपाक्ष त्रिलोचनः।।
कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः।
हरः स्मरहरो भगत्रयम्बकः त्रिपुरान्तकः।।
गंगाधरो अन्धकरिपुः क्रतुध्वंसी वृषध्वजः।
व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणू रुद्र उमापतिः।। १-३०-३४

इन श्लोकों में आबद्ध ४८ नामों के दार्शनिक विकास की ओर यदि हम दृष्टिपात करें तो हमें लगता है कि इन सबका विकास कुल मिलाकर लगभग दशवीं शताब्दी तक स्थिर हो जाता है। यहाँ हम शिव के ऐतिहासिक तत्त्व पर विचार नहीं करना चाहेंगे परन्तु यदि उपलब्ध सभी शिवस्तोत्रों में शिव के विशेषण खोजे जायें तो उनसे शिव के समग्र दार्शनिक तथ्यों पर भली-भाँति प्रकाश पड़ सकता है। किन अर्थों में वे पशुपति कहलाये और कैसे उनको प्रथमाधिप और शितिकण्ठ कहा गया, किस तरह उनके साथ कपाल साधना जुड़ी, किस तरह उनको वामदेव माना गया, वृषभध्वज का तात्पर्य क्या है और किस प्रकार रुद्र से उमापति होते हुये शिव बने। इसका पूरा इतिहास इन सारे शब्दों में अन्तर्निहित है।

शिव के ४८ नाम भारतीय कला में भी उट्टंकित हुए हैं। मथुरा आदि अनेक स्थनों पर प्राप्त शिव की मूर्तियों में शिव के सारे रूप उत्कीर्ण हुये दिखाई देते हैं। स्थानाभाव के कारण इन सारी बातों पर फिलहाल हम वर्णन नहीं कर पा रहे हैं परन्तु इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि **अमरकोष** के आधार पर समूचा शैव दर्शन एवं संस्कृति का एक सुन्दर चित्र खीचा जा सकता है। शिव के आस-पास रहने वाले देव, किंकर स्थान, व्यक्तित्व आदि सब कुछ इसी के ईर्द गिर्द समाहित हो जाते हैं। वस्तुतः यह एक विस्तृत शोध का विषय है। इस विषय पर हम भविष्य में विस्तार से लिखने का प्रयत्न करेंगे।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व० श्री शान्ति भाईवनमाली शेठ : एक परिचय

आपका जन्म सौराष्ट्र के जेतपुर में तारीख २१-५-१९११ को शेठ बनमाली दास की पत्नी श्रीमती मणिबहन की कोख से हुआ। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा गुजराती माध्यम से जेतपुर में ही हुई। तदनन्तर १९२७ से १९३१ तक श्री अ०भा०श्वे०स्था० जैन कॉन्फ्रेन्स द्वारा स्थापित जैन ट्रेनिंग कालेज बीकानेर, जयपुर और ब्यावर में संस्कृत-प्राकृत का अध्ययन किया तथा कालेज की ओर से 'जैन विशारद' की उपाधि प्राप्त की और साथ ही जैन-न्याय की परीक्षा 'न्यायतीर्थ' उत्तीर्ण की। जैन शास्त्रों का विशेष अध्ययन करने के लिए आप अहमदाबाद में पं० बेचरदास जी के पास रहे और वहाँ प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी तथा आचार्य मुनिश्री जिनविजय जी के विशेष सम्पर्क में आये। पू० गांधीजी, आ० काकासाहेब, आ० कृपलानी जी आदि राष्ट्रनेताओं के सम्पर्क में आने का भी आपको अवसर मिला। उसके बाद १९३१ से १९३४ तक विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वभारती शान्ति निकेतन में रहकर आचार्य मुनि जिनविजयजी एवं महामहोपाध्याय श्री विधुशेखर भट्टाचार्य से जैन धर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया। परिणामस्वरूप 'धम्मसुत्तं' के नाम से जैन, बौद्ध सूत्रों का संकलन किया जो बाद में पं० बेचरदास जी द्वारा सम्पादित होकर 'महावीर वाणी' के नाम से प्रकाशित हुआ।

१९३५ से १९४४ तक विविध धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं में सेवारत रहकर आपने विभिन्न ग्रन्थों का संकलन और सम्पादन किया। आपके साक्षात्कार, जवाहर-ज्योति, धर्म और धर्मनायक, ब्रह्मचारिणी, जवाहर व्याख्यान संग्रह, जैन प्रकाश की उत्थान-सम्पूर्ति, अहिंसा पथ आदि पत्रिका और ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

१९४५ से १९५० तक श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस में संचालक के रूप में सेवा दी और पं० सुखलालजी के सम्पर्क से मन में रही हुई 'समन्वय-भावना' विशेष दृढ़ हुई। वहीं रहकर 'जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी' की स्थापना और संचालन में योगदान दिया और जैन संस्कृति, धर्म और दर्शन विषयक कई पुस्तिकाओं का सम्पादन किया।

१९५५ से १९६५ तक श्री स्था० जैन कॉन्फ्रेन्स के मन्त्री रहे और दिल्ली जैन-प्रकाश (हिन्दी, गुजराती) का सम्पादन किया। इसी बीच जैन गुरुकुल, ब्यावर में रहकर समाजसेवा की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९५६ से १९६६ तक आ० काकासाहेब कालेलकर के साथ राष्ट्र-सेवा और हरिजन-सेवा आदि कार्यों में रत रहे और गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा, मंगल प्रभात, श्रम साधन केन्द्र, विश्व समन्वय केन्द्र तथा गांधी विचारधारा को पुष्ट करने वाली सर्वोदयी संस्थाओं में योगदान देने का अवसर मिला।

१९६९ में मास्को में विश्व-शान्ति परिषद् में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया और समतामूलक जैन धर्म के 'साम्यभाव' पर व्याख्यान दिया। मास्को रेडियो में व्याख्यान देने और रशिया के कई नगरों का पर्यटन करने में भी आपको मौका मिला।

१९७४-७५ में भगवान् महावीर २५वीं निर्वाण शताब्दी महोत्सव की राष्ट्रीय समिति के मन्त्री रहे और महोत्सव की सफलता में सक्रिय सहयोग दिया। १९८५ जैन मिलन इण्टरनेशनल, दिल्ली की संस्था ने आपकी सेवाओं का आदर करते हुए 'सन्निष्ठ समाजसेवी' की उपाधि प्रदान की। इसी वर्ष आप पार्लियामेण्ट ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स में प्रतिनिधि वक्ता के रूप में अमेरिका गये।

आपने जहाँ और जो भी काम किया, पूरी निष्ठा और तन-मन लगाकर किया। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रशंसकों की बड़ी मण्डली प्राप्त की। पार्श्वनाथ विद्यापीठ अपने पूर्व व्यवस्थापक एवं विख्यात समाजसेवी श्री शान्तिभाई को उनके निधन पर हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्श परिवार की संकल्पना : धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में*

प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

भौतिकवाद के चकाचौंध में आज मानव धर्मशास्त्र की उपेक्षा कर अध्यात्मवाद को भूल रहा है, मानवमूल्यों को छोड़ रहा है और नितान्त स्वार्थी होकर धर्म की सही परिभाषा को भ्रष्ट कर रहा है। इससे सदाचार का महापथ एक गलियारा-सा बनकर बैठा हुआ है, संयुक्त परिवार टूट रहा है और मानवता क्रन्दन कर रही है।

आज यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है कि देश और काल की आवश्यकतानुसार धर्मों और सम्प्रदायों का उद्भव होता रहा है और आचार्यों के चिन्तन के अनुसार शास्त्रीय कर्मकाण्डों में वैविध्य आता रहा है। इसी वैविध्य ने संकीर्णता को जन्म दिया, अध्ययन और जिज्ञासा को सुखाया और साम्प्रदायिक संघर्ष एवं कटुता को बढ़ाया है। एक धर्म दूसरे धर्म की परम्पराओं से अनभिज्ञ है, एक धर्म के ही सम्प्रदायों में पारस्परिक वैमनस्य बढ़ रहा है और हर धर्म का अनुयायी आज अपने धर्म को सर्वोत्तम मानकर अन्य धर्मों के प्रति घृणा का भाव पाल रहा है।

आज आवश्यकता है इस घृणाभाव को दूर कर अनेकता में एकता को प्रस्थापित करने और धर्मग्रन्थों की मूल परम्परा को मूल्यांकित करने की। समय का यह तकाज़ा है कि धर्मग्रन्थों का समुचित अध्ययन किया जाये और उनमें से मानवता के प्रतिष्ठापक सूत्रों को उद्घाटित किया जाये। इस उद्घाटन में मानवता को कलंकित करने वाले अध्यायों को विस्मृत करना होगा और मानव जीवन की सही पहचान कराकर ऐसा समन्वय स्थापित करना होगा जिससे मानव अपने चरमलक्ष्य को पहचान सके।

परिवार एक प्राथमिक पाठशाला है, संस्कारों के निर्माण की कार्यशाला है और भ्रातृत्वभाव को बनाये रखने की धर्मशाला है। उसी से व्यक्ति अपना सेवा क्षेत्र विकसित करना सीखता है, सच्चे त्याग की परिभाषा जानता है, जीवन की पहचान कर माता-पिता की निःस्वार्थ सेवा करता है और "वसुधैवकुटुम्बकम्" की ओर अपनी दृष्टि डालता

---

*. पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं श्री बनारस पार्श्वनाथ जीर्णोद्धार ट्रस्ट द्वारा समायोजित संगोष्ठी में विषय-प्रस्तुति के रूप में पठित अभिभाषण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इच्छाओं का उदात्तीकरण, सहानुभति का विस्तृतिकरण, सुख-दुःख का साधारणीकरण जब तक नहीं होगा, व्यक्ति और समाज का निर्माण नहीं हो सकता। भेद-भाव की वीभत्स दीवारों को भेद कर प्रेम का विस्तार करना नितान्त आवश्यक है।

हर धर्म आदर्श परिवार की संकल्पना प्रस्तुत करता है। पारिवारिक सदस्यों के बीच किस प्रकार सौहार्द बना रहे, उनका यथोचित सम्मान करते हुए कैसे उनकी सेवा की जा सके, परिवार के बाहरी जगत् को समरसता में बाँधकर कैसे वैयक्तिक परिवार की संकल्पना को सफल किया जाये, ये यक्ष प्रश्न आज प्रत्येक अध्येता और चिन्तक के मन में कौंध रहे हैं। धर्म प्रवृत्तिमूलक है या निवृत्तिमूलक, पर उसका लक्ष्य यथार्थ सुख की प्राप्ति कराना तो रहा ही है। फलतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच समन्वय स्थापित करते हुए निःस्वार्थता, अनासक्ति, व्यापकता और यथार्थता के आधार पर परिवार में सुखद और समरस वातावरण बनाया जा सकता है। सार्वलौकिकता, सामुदायिकता, नैतिकता और सापेक्षता के सिद्धान्त, चिन्तन में अनेकान्त और अभिव्यक्ति में स्याद्वाद का आधार बनाते हैं, सत्-असत् का विवेक पैदा करते हैं, निरपेक्षता को बढ़ाते हैं और पारस्परिक सद्भाव, संयम और सहयोग के आधार पर "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का पाठ पढ़ाते हैं। यही पाठ आत्मज्ञान का जनक है और आत्मज्ञान ही जीवन का लक्ष्य है। वैयक्तिक और सामुदायिक हित इसी आत्मज्ञान में सन्निहित हैं।

हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सभी अध्याय इसी आत्मज्ञान और आध्यात्मिकता के अन्तर्गत हैं। उनमें अनेकता में एकता के स्वर गुंजित होते हैं। चाहे वह धर्म हो या दर्शन, कला हो या विज्ञान, सभी क्षेत्रों में प्राचीन आचार्यों ने स्वानुभूति के आधार पर एक आदर्श परिवार की संकल्पना की है और समूची संस्कृति को प्राणमय बनाया है। चेतना को जागृत कर मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक रूप को परिष्कृत कर सम्पूर्ण मानव जाति को एक ही जाति की परिकल्पना देने में उनका योगदान अविस्मरणीय है। वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से आदर्श परिवार की संकल्पना को प्रस्तुत किया है। पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, श्वसुर-श्वसृ, सास-बहू आदि जैसे परिजनों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये, पड़ोसी बन्धुजनों एवं अतिथियों से कैसे स्नेह सम्बन्ध रखा जाये इसका समुचित समाधान सभी धर्म ग्रन्थों में मिलता है। इसी तरह अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का परिपालन करते हुए सप्त व्यवसनों से दूर रहकर परिवार के सुख-समृद्धि को दृष्टिगत करने का पथ वैदिक ऋषियों, मुनियों तथा ऋषभ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थङ्करों एवं महात्मा बुद्ध के उपदेशों मे प्रशस्त हुआ है। भारत वसुन्धरा के बाह्यवर्ती इस्लाम, ईसाई आदि संस्कृतियों में भी लगभग इन्हीं सिद्धान्तों का परिपोषण मिलता है।

वस्तुतः आदर्श परिवार की संकल्पना के पीछे व्यक्ति और समष्टिगत समग्र कल्याण का भाव निहित रहता है। व्यक्ति समाज का सदस्य है। उसे धन, सम्पत्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यश, काम, शक्ति, सम्मान आदि की आकांक्षा रहती है जिसे वह बड़े संघर्षों का सामना कर पूरा कर पाता है। इस पूर्ति में यदि उसके साधन विशुद्ध न हों तो उसका सारा पारिवारिक और सामाजिक परिवेश विशृंखलित हो जाता है, छल-कपट से पारिवारिक सदस्यों में पारस्परिक अविश्वास और सन्देह घर कर जाता है, नैतिक पर्यावरण दूषित हो जाता है और सहयोग तथा सद्भाव के निर्झर सूख जाते हैं।

इस टूटन से बचने के लिए आचार्यों ने एक नैतिक संहिता का रेखाचित्र खींचा है और उसे विविध सुन्दर भावों के रंगों से चित्रित किया है। यह चित्रण निश्चित ही बड़ा प्रभावक और आकर्षक है। इसमें सारी कलाओं और दर्शनों ने अपने मनोहारी चित्र दिये हैं। सारा साहित्य ऐसे वर्णनों से भरा पड़ा है। आध्यात्मिक और भक्ति रस ने उसे निर्वाणरूप साध्य तक पहुँचाने में पूर्ण अवदान दिया है।

इसी भूमिका के आधार पर पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरीश्वर जी म० सा० के पावन सान्निध्य में यह संगोष्ठी हो रही है। आप श्री प्रसिद्ध जैनाचार्य हैं और अनेकान्त-समन्वयवाद के सम्पोषक भी।

इसी पुनीत अवसर पर श्री बनारस पार्श्वनाथ जीर्णोद्धार ट्रस्ट द्वारा निर्मित श्वेताम्बर पार्श्वनाथ जैन मन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ में श्री बनारस पार्श्वनाथ जीर्णोद्धार ट्रस्ट और पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में आपश्री के सान्निध्य में २३ विद्वानों का सम्मान किया जा रहा है। आदर्श परिवार की संकल्पना को प्रचारित-प्रसारित करने में आपश्री का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। एक बार पुनः आप सभी का स्वागत हम समवेत रूप में कर रहे हैं और अपनी विषय-प्रस्तुति को मुनिवर के शब्दों के साथ विराम दे रहे हैं।

फिजूल पांव घिसाने से फायदा क्या
अगर शौके-बयाबाँ है तो घर में पैदाकर।
मिटा दो खुद को इतना कि रहे न कुछ निशां बाकी
अगर पाना सनम को है, खुदी से हाथ धो बैठो।।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

હરિભદ્રસૂરિનું જ્ઞાનતત્ત્વચિંતન

રસિકલાલ છોટાલાલ પરીખ

૧

ભારતનાં પ્રાચીન ચિંતકોમાં વૈદિક-જૈન-બૌદ્ધમાં આચાર્ય હરિભદ્રનું (ઈ૦ સ૦ ૭૦૧થી ૭૭૧) ચિંતન વિશિષ્ટ પ્રકારનું છે. આ પ્રાચીન સૂરિ પરત્વે આધુનિક વિદ્વાનો અને ચિંતકોએ પૂરતું ધ્યાન આપ્યું નથી,—એ વિષે પંડિત ડૉ૦ સુખલાલજીએ તેમનાં હૃદ્ય વસનજી વ્યાખ્યાનોમાં યોગ્ય રજૂઆત કરી છે.

આચાર્ય હરિભદ્ર વિષે જે કથાઓ પરંપરામાં ઊતરી આવી છે તેમાંથી તેમનું જીવન પણ વિશેષ કોટિનું તરી આવે છે. જન્મે, સંસ્કારે અને શિક્ષણે બ્રાહ્મણ એવા એ મેવાડવાસી પંડિત યાકિની મહત્તરા નામે જૈન સાધ્વીના ધર્મપુત્ર બન્યા અને પોતાને याकिनीमहत्तरासूनु નામે પ્રસિદ્ધ કરવામાં ગૌરવ લીધું,—એ કલ્પનાને ઉત્તેજિત કરે એવી એમની જીવનઘટના છે. એ પ્રસંગ વિષેની કથામાં જે સચવાયું છે તેના કરતાં એમાં ઘણું વધારે હોવું જોઈએ એમ ઐતિહાસિક પ્રતિભાને સ્ફુરણ થાય એવો એ પ્રસંગ છે.

૨

પંડિત ડૉ૦ સુખલાલજીએ વસનજી વ્યાખ્યાનમાળામાં આચાર્ય હરિભદ્રના બૌદ્ધિક જીવનની તલસ્પર્શી અને વિશદ સમાલોચના કરી છે. તેમણે હરિભદ્રને ' સમદર્શી ' એવું બિરુદ આપ્યું છે. આ સમદર્શીપણું આચાર્ય હરિભદ્રમાં અનુભવની કઈ ભૂમિકામાંથી, જ્ઞાનના કયા ક્ષેત્રમાંથી ઉદ્‌ભવ્યું સંભવે એનો વિચાર કરવાનો મારો પ્રયત્ન છે; જો કે પંડિતજીએ કહ્યું છે તેનાથી બીજું કાંઈ કહેવાનું થશે એમ લાગતું નથી; ફક્ત મારી પોતાની સમજ માટે આ એક પ્રકારનું સ્પષ્ટીકરણ છે.

૩

આ દાર્શનિકની તાર્કિકતામાં જીવનપ્રાણ સ્ફુરતો દેખાય છે.

લાગણીઓને બાજુ ઉપર રાખી પ્રસરતો વિચારપ્રવાહ શુષ્ક થાય તો એ યોગ્ય કહેવાય—એવી શુષ્કતા અને કર્કશતા એનું લક્ષણ બને એ આવશ્યક ગણાય; છતાં આ તર્કવ્યાપારનું પણ જીવનલક્ષ્ય

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય સુવર્ણ મહોત્સવ અંક. ભાગ ૧ સે સાભાર

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

હોય છે; અને તે સત્યપ્રાપ્તિનું. ફ્રિલસૂફીના ઇતિહાસમાં અનેક નાનામોટા ચિંતકોના વિચારપ્રવાહો ચાલ્યા આવે છે. તે વિષે અનેક 'ગ્રહોને' કારણે ચિંતકો રાગદ્વેષથી મુક્ત રહી શકતા નથી, અને કષાયથી કલુષિત થયેલી આવી તર્કપરંપરા સત્ય જોઈ શકતી નથી; તો વળી કેવળ શ્રદ્ધાના જોરે વિચાર કરનારા એ શ્રદ્ધા માટે હેતુઓ શોધવાના પ્રયત્નને સાર્થક ગણતા નથી. આમ મતમતાન્તર પ્રવર્તમાન રહે એ અનિવાર્ય છે, પરંતુ સત્યશોધકનો મત રાગદ્વેષથી પ્રેરાયલા સ્વીકાર કે ત્યાગથી દૂષિત થયેલો ન હોય, અને સત્યજિજ્ઞાસુ મતિને હેતુપૂર્વકતાથી સંતોષ આપે એવો હોય એ ઇષ્ટ છે! આનું સ્પષ્ટ ભાન શ્રી હરિભદ્રસૂરિને દાર્શનિક તર્કજાલમાંથી નીકળવાના પ્રયાસમાં થયું લાગે છે. હેતુપુરઃસર તર્ક ચાલે એ તો આ બ્રાહ્મણ પંડિતની સહજ રુચિ આવશ્યક ગણે, પણ સત્યજિજ્ઞાસાની યથામણ એને સૂચવે કે આ બધો પ્રયત્ન મતિ રાગદ્વેષ-પ્રેરિત પક્ષપાતથી મુક્ત રહી શકે એટલા માપમાં જ સુફલ થાય, અર્થાત્ સત્ય ફલ! આચાર્ય હરિભદ્રે લોકતત્ત્વનિર્ણય ગ્રંથ રચતાં ઉદ્ગાર કઢ્યો કે—

પક્ષપાતો ન મે વીરે ન દ્વેષઃ કપિલાદિષુ ।
યુક્તિમદ્વચનં યસ્ય તસ્ય કાર્યઃ પરિગ્રહઃ ॥ ૩૮[૧] (પૃ૦ ૯૮)

આ ઉદ્ગાર અને તેની આગળ-પાછળના શ્લોકોમાં વ્યક્ત થયેલી ભાવનાઓ કેવા મનોમન્થનમાંથી પ્રકટ થઈ હશે એ જાણવાનાં પ્રમાણો મળવાં અશક્યવત્ છે; પણ જેમણે થોડોક પણ સત્યની લાલસાથી મૂંઝાઈને ચિન્તનપ્રયાસ કર્યો છે તેમની કલ્પનામાં એ મનોમંથન ન આવે એવું નથી.

૪

આચાર્ય હરિભદ્રનું ચિંતન 'યુક્તિમત્તાથી' અટકતું નથી. સમત્વપૂર્વક હેતુયુક્ત વિચારણા કર્યા છતાં પણ મતમતાન્તર રહે છે; આવાં મતાન્તરો રહેવાનું કારણ શું? ફ્રિલસૂફીના ઇતિહાસમાં આ પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થયા જ કરે છે. સ્વસ્થતાથી પ્રવર્તતી તત્ત્વજિજ્ઞાસા પણ આવાં મતાન્તરો ટાળી શકતી નથી. સુપ્રસિદ્ધ જર્મન ફ્રિલસૂફ કાન્ટને આ પ્રશ્ને ખૂબ મૂંઝવ્યો હોય એમ લાગે છે. પોતાની પૂર્વેનાં ફ્રિલસૂફોનાં તત્ત્વ-જ્ઞાનોની સમાલોચના કરતાં એને એમ દેખાયું કે તેઓ પરસ્પરના તત્ત્વજ્ઞાનને ખંડિત કરતા હોય છે. આ પરસ્પરખંડન બધાં રાગદ્વેષથી નહિ; કેટલાકનું તો હેતુપૂર્વક તર્કથી થયેલું દેખાયું હશે. આ વિરોધના નિરાકરણને શોધતા એને એમ લાગ્યું હશે કે આવો પરસ્પરવિરોધ અપરિહાર્ય છે, એથી કાન્ટે આ જાતના તર્કપ્રવાહને વિસ્તારતી 'મતિ'('રીઝન')ની મર્યાદાઓ તપાસવાનું ચિંતન કર્યું, જે એના 'ક્રિટિક ઑફ પ્યોર રીઝન'માં પલ્લવિત થયું છે. જે પરમ તત્ત્વો વિષે ફ્રિલસૂફોએ ચિંતનપ્રયાસ કર્યા છે, અને જેને વિષે તેઓ એકમત કે સંમત થઈ શકતા નથી તે 'રીઝન'('મતિ')ની શક્તિ બહારના છે એવા અભિપ્રાય ઉપર એ આવ્યો. કાલ, આકાશ, દિક્, કાર્યકારણભાવ—આ તત્ત્વોને મતિ સિદ્ધ કરી શકે નહિ, તેમને ગૃહીત કરીને જ મતિ આગળ ચાલે છે; એટલે દિક્, કાલ, કારણકાર્યભાવ આદિનાં ઉપરની ભૂમિકા જો કોઈ હોય તો તે મતિને અગ્રાહ્ય છે. એટલે જે પદાર્થો સ્વભાવથી જ મતિને અગ્રાહ્ય છે તેમને વિષેનું ચિન્તન કેવી રીતે નિર્ણયકોટિનું બને? આથી જ દિક્કાલાદિથી પર એવા પદાર્થોને આત્મા, ઈશ્વર, આચારધર્મ આદિને મતિ સિદ્ધ ન કરી શકે; તેમને આસ્થાથી (ફેઇથથી) સ્વીકારીને જ માણસે ચાલવું જોઈએ.

જ્ઞાનતત્ત્વના આ નિરૂપણ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો દ્વારા પ્રાપ્ત થતી સામગ્રીને દિક્-કાલ અને કાર્ય-

---

૧ વીરમાં પક્ષપાતે ના, ના દ્વેષ કપિલાદિમાં
હેતુસંગત જે બોલે, થટે સ્વીકાર તેહનો.
યો૦ બિ૦ ટીકા. પૃ૦ ૧૧૪ યુક્त्या–उपपत्त्या; पृ० २९७ युक्तिं हेतुम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

કારણુત્વના ચોકઠામાં મૂકી મતિ જ્ઞેયતા અર્પે છે. આ જ્ઞાન તે એમ્પિરિકલ નૉલેજ. ઇન્દ્રિયો દ્વારા જેમની સામગ્રી મળતી નથી એવા વિષયો જ્યે હોય તો તે મતિ જ્ઞાનની બહાર છે. આ વિચારસરણી આગળ વધતાં અજ્ઞેયવાદ(એગ્નોસ્ટિસિઝમ) અને જ્ઞાનોપપ્લવવાદ(સ્કેપ્ટિસિઝમ)ને પ્રકટ કરે છે. એમાંથી બચવાની ઇચ્છા, વિજ્ઞાનનું સંભાવ્યતાનું (પ્રોબેબિલિટિનું) ધોરણ ઊભું કરે છે. પણ વિજ્ઞાન(સાયન્સ) અતીન્દ્રિયજ્ઞાનને અવગણે છે; તો બીજી દિશામાં અતીન્દ્રિય વિષયો પરત્વે આસ્થા અને ઇન્દ્રિય વિષયો પરત્વે મતિસંગત તર્કવાદ–રેશનાલિઝમ–નો માર્ગ સ્વીકારીને સાંસારિક અને પારલૌકિક વ્યવહાર સુગમ બનાવાય છે; અર્થાત્ સાંસારિક વ્યવહાર ઇન્દ્રિયો દ્વારા મળતી સામગ્રીને મતિ જે જ્ઞાનરૂપ આપે તેને આધારે ચાલે છે, ધાર્મિક કે પારલૌકિક વ્યવહાર પરંપરાગત કે પોતે વિચારપૂર્વક સ્વીકારેલી આસ્થા(ફેઇથ) ઉપર નિર્ભર છે.[૨]

આ વિચારસરણીઓમાં એક બાબત સંમત છે : આત્મા, ઈશ્વર આદિ વિષયો મતિગમ્ય નથી,— ભલે એમને આસ્થાનો વિષય બનાવો. એ આસ્થાનો આધાર શાસ્ત્રગ્રંથો છે, શાસ્ત્રગ્રંથોની પ્રામાણિકતાનો આધાર તે ઈશ્વરપ્રકાશિત છે અથવા સર્વજ્ઞભાષિત છે એવી કોઈ માન્યતા ઉપર છે. પરંતુ આવી માન્યતા પણ આસ્થાને જ અવલંબે છે.

આવી સમગ્ર વિચારસરણી માટે પણ મતમતાંતર અપરિહાર્ય છે; કારણ કે માણસ પોતાની ઇન્દ્રિય-શક્તિના અને બુદ્ધિશક્તિના માપમાં મળતા જ્ઞાનને પોતાનું જ્ઞાન સમજી પ્રત્યક્ષવત્ વ્યવહાર કરે; પરંતુ આસ્થા એ પરોક્ષ છે. એને પરંપરાના બળે માનવ વળગી રહે—અર્થાત્ કે રાગદ્વેષને આધારે–પોતાની પરંપરાગત આસ્થા સાચી, બીજાની જૂઠી, એ રીતે.

'કજિયાનું મોં કાળું' એવું વ્યવહારભીરુપણું અથવા 'આ કહે છે એ સાચું અને તે કહે છે એ સાચું' એવા પ્રકારનું મતિમાન્દ્ય એક પ્રકારનું માધ્યસ્થ્ય કે સમત્વ પ્રકટાવી શકે છે અને એને વળગી રહી શકે છે, અને વ્યવહારમાં ઝગડા ટાળી શકે છે. બીજું એક માનસિક સમત્વ પણ સંભવે છે : એકે વિચારસરણી સળંગ સાચી નથી, દરેકમાં અંશતઃ સત્ય અર્થાત્ વ્યવહારક્ષમતા હોય છે અને વ્યવહારક્ષમ તે સત્ય એટલે કોઈ એક વિચારસરણીએ બીજી કોઈ વિચારસરણી ઉપર આક્રમણ કરવું નિરર્થક છે— એવા ખ્યાલ પણ સમત્વ રખાવી શકે છે.[૩]

આ બધું સમત્વ આભાસ છે, સમત્વ નથી. સાચું સમત્વ તો વસ્તુસત્યમાં એવું દર્શન થાય કે વ્યવહારમાં વિવિધ અને વિરુદ્ધ દેખાતું અવિરુદ્ધ છે, એક છે. એમ એ દેખાય તો જ સમત્વ સહજ રીતે આવે. પરંતુ આ જાતના દર્શનને પાશ્ચાત્ય જ્ઞાનતત્ત્વની ફિલસૂફીમાં (એપિસ્ટેમૉલૉજીમાં) સ્થાન નથી. એને મિસ્ટિસિઝમ નામે કાં તો આવકાર્યું છે કે બહુધા અવગણ્યું છે.

હકીકતમાં ઇન્દ્રિયગમ્ય વિષયસામગ્રી ઉપરથી મતિએ ઊપજાવેલા જ્ઞાનની (એમ્પિરિકલ નૉલેજની) આ મર્યાદા છે; અને જેઓ એમાંથી બહાર જઈ શકતા નથી અથવા એમાં જ સંતુષ્ટ છે તે બધાની આ મર્યાદા છે; 'આસ્થા'ને એમાં સ્થાન આપી અમુક આશ્વાસન મેળવી આત્મા, ઈશ્વર, સત્ય, ધર્મ આદિ પદાર્થોનો વ્યવહાર જોકે કરી લેવાય છે. પરંતુ એમાં કોઈ સત્યપ્રતિષ્ઠાનું દર્શન છે એમ કહેવાય નહિ.

---

૨. શબ્દાર્થ તત્ત્વના પૃથક્કરણ ઉપર ઊભી થયેલ એક વિચારસરણી મેટાફિઝિક્સ માત્રને non-sense અર્થાત 'અનર્થક કે વ્યર્થ' ગણે છે.

૩. સહજ અસ્તિત્વની કૉએક્ઝિસ્ટન્સની વર્તમાન રાજકીય વિચારસરણીનો એક આધાર આ તત્ત્વ છે; બીજો આધાર એ કે—'જોકે અમારી સામ્યવાદી કે મૂડીવાદી લોકશાહી જ સાચી છે, છતાં દ્વિસાત્મક જગતમાં અત્યારની સ્થિતિમાં સર્વનાશ હોવાથી પરસ્પરને પૃથ્વી ઉપર સાથે જીવવાં દેવાં અને વિચારસરણીઓને પોતાનું બલાબલ પ્રકટ કરવા દેવું, વિચારની ભૂમિકા ઉપર જ, ભૌતિક બળની નહિ.'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

૫

ભારતીય વિચારસરણીમાં જ્ઞાનતત્ત્વપરત્વે અનેક પ્રવાહો છે. એક વહેણમાં કેવળ ઇન્દ્રિયપ્રત્યક્ષનો સ્વીકાર, બીજામાં અતીન્દ્રિયપ્રત્યક્ષનો પણ સ્વીકાર અને એક કે બન્ને પ્રત્યક્ષો ઉપર આધાર રાખી ચાલતા અનુમાનનો સ્વીકાર; ત્રીજા વહેણમાં અનિર્વચનીયતા કે અવક્તવ્યતા, અને વળી ચોથામાં ઉપપ્લવવાદ.

દાર્શનિક હરિભદ્રસૂરિ આ બધા વાદોમાં ઊંડા ઊતરેલા છે. એમણે એમની અનેકાન્તજયપતાકા આ વાદોનું અવગાહન કરી કરકાવી છે.

પરંતુ જ્ઞાનતત્ત્વના નિરૂપણમાં સ્વસંસ્કૃતિમાં અમુક પરંપરા હોવી એ એક બાબત છે; તેનું કુશળ પંડિતો અવગાહન કરે એ અપેક્ષિત છે. તો એમાંથી કુશળ ચિંતકો એની પ્રમાણબદ્ધ વ્યવસ્થા કરે—અંશોના સ્વીકાર–પરિહાર કરે, અથવા અને એમાંથી પોતાના અનુભવને સત્ય લાગે એવું તારતમ્ય યોજે એ બીજી બાબત છે. એમાંથી જીવનદૃષ્ટિ કે ચિંતનદૃષ્ટિ પ્રકટ કરે એ વળી ત્રીજી બાબત છે. હરિભદ્રસૂરિએ આ ત્રિવિધ પ્રકારે ભારતીય તત્ત્વચિંતનનું પરિશીલન કર્યું છે.

આચાર્ય હરિભદ્રનાં ચિત્તવિકાસનાં સ્થાનકો જાણવાના આપણી પાસે કોઈ સ્વતંત્ર પુરાવા નથી. પરંતુ એમના ગ્રન્થો ઉપરથી અટકળ કરવાની છૂટ લઉં તો મને એમ લાગે છે કે એમના ચિંતનાત્મક જીવનનું એક મોટું સ્થાનક યુક્તિમદ્વચનં યસ્ય તસ્ય કાર્યઃ પરિગ્રહઃ—એ ભાવનામાં વ્યક્ત થાય છે; એમાંથી મતિસંગત વિધાનોના સ્વીકારમાં રાગદ્વેષપ્રેરિત પક્ષપાતને બાજુ ઉપર રાખવાં જોઈએ એ એમણે પોતાને માટે ફલિત કર્યું હશે. એમને જિનપ્રતિપાદિત તત્ત્વજ્ઞાન સ્વીકાર્ય બન્યું કારણ કે એ એમની બુદ્ધિને સંગત લાગ્યું. પોતે બ્રાહ્મણ હતા, વૈદિક દર્શનોના જ્ઞાતા હતા, કપિલાદિ મુનિઓને શ્રમણ થયાં પહેલાં આદરપૂર્વક જોયા હશે, એ આદર શ્રમણ થયા પછી પણ ગયો નહિ હોય! છતાં વીરનું વચન એમને 'યુક્તિમત્' લાગ્યું એટલે એનો એમણે સ્વીકાર કર્યો.

એમના ઉપાસ્ય દેવની કલ્પના પણ આ જ ધોરણે થઈ છે:

> त्यक्तस्वार्थः परहितरतः सर्वदा सर्वरूपं
> सर्वाकारं विविधमसमं यो विजानाति विश्वम्।
> ब्रह्मा विष्णुर्भवति वरदः शङ्करो वा हरो (?जिनो) वा।
> यस्याचिन्त्यं चरितमसमं भावतस्तं प्रपद्ये ॥ ३१ ॥[४]
>
> (ષો૦ ત૦ તિ૦)

એમની મતિએ આ અને એની આગળપાછળના શ્લોકોમાં કયા ગુણવાળા દેવ 'પૂજ્ય' છે એ શોધી કાઢયું છે. એમને નામની સાથે તકરાર નથી. એમની મતિ પૂજ્ય દેવમાં અમુક ગુણ માગે છે અને અમુક દોષ તિરસ્કારે છે. પણ એમની મતિ આટલું કલ્પ્યા પછી એટલું સ્વીકારવા જેટલી પ્રામાણિક રહી છે કે એ ઉપાસ્ય દેવનું ચરિત 'અચિન્ત્ય' અને 'અસમ', 'કોઈની સમાન નહિ, કોઈની સાથે સરખાવી શકાય નહિ' એવું છે.

પરંતુ જે 'અચિન્ત્ય' છે તે જ્ઞાનનો વિષય નથી અને જે મતિજ્ઞાન અને એની 'યુક્તિ'નો વિષય નથી તેની ઉપાસના કરવી એટલે આકાશકુસુમની માળા પહેરવી.

શ્રી હરિભદ્રસૂરિને આ અજ્ઞાત ન હોય. એ અચિંત્યસ્વરૂપ ઇન્દ્રિયવિષયજ્ઞાનનિર્ભર મતિને

---

૪ જેણે સ્વાર્થનો ત્યાગ કર્યો છે, જે પરહિતમાં રમમાણ છે, સર્વદા સર્વરૂપ, સર્વાકાર, વિવિધ અને એકસરખું નહિ એવા વિશ્વને વિશેષે કરીને જાણે છે, જે બ્રહ્મા હોય, વિષ્ણુ હોય, વરદાન કરનાર શંકર હોય અથવા જિન હોય—જેનું અસામાન્ય અને અચિંત્ય ચરિત છે તેને હું ભાવથી ભજું છું.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'અચિન્ત્ય' ખરું; પણ એમની વિચારયોજનામાં જ્ઞાનસાધનોની મર્યાદા અહીં પૂરી થતી નથી. એમના જ્ઞાનતત્ત્વના નિરૂપણમાં બીજી એક ભૂમિકા છે—જ્યાં આ 'અચિન્ત્ય' અનુભવગોચર થાય છે, જ્ઞાત થાય છે.

શ્રી હરિભદ્રસૂરિને જ્ઞાનની આ બીજી ભૂમિકા યોગિજ્ઞાનમાં દેખાઈ છે. એમનાં યોગવિષયક ગ્રંથોમાં આ તત્ત્વ તરી આવે છે. આવા જ્ઞાનતત્ત્વનું વિવેચન સંક્ષેપમાં, પણ વિશદતાથી, યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયમાં છે; ખાસ કરીને 'દીપ્રા' નામની ચોથી યોગદૃષ્ટિના નિરૂપણપ્રસંગે.

એમણે બોધના ત્રણ પ્રકારો પાડ્યા છે: બુદ્ધિ, જ્ઞાન અને અસંમોહ. બુદ્ધિ એ ઇંદ્રિયાર્થાશ્રયા—ઐન્દ્રિય અર્થોને આશ્રયે પ્રવર્તતો બોધ છે. આગમ અર્થાત્ તે તે વિષયના શાસ્ત્રગ્રંથો(આજની ભાષામાં તે તે વિષયના સાયન્સ ગ્રંથો)માંથી મળતો બોધ તે જ્ઞાન; અને અસંમોહ એટલે સદનુષ્ઠાનથી, સાચા અનુષ્ઠાનથી, ક્રિયા કરવાથી, પ્રયોગથી, થતો બોધ તે અસંમોહ. ઉ૦ ત૦, રત્નનો આંખથી થતો બોધ બુદ્ધિ, એ રત્ન છે એમ શાસ્ત્રપૂર્વક થતો બોધ એ જ્ઞાન, અને તેને પ્રાપ્ત કરી પરીક્ષાથી નિર્ણીત થતો સ્પષ્ટ બોધ એ અસંમોહ:

બુદ્ધિર્જ્ઞાનમસંમોહસ્ત્રિવિધો બોધ ઇષ્યતે ॥ ૧૧૮ ॥
ઇન્દ્રિયાર્થાશ્રયા બુદ્ધિર્જ્ઞાનં ત્વાગમપૂર્વકમ્ ।
સદનુષ્ઠાનવચ્ચૈતદસંમોહોઽભિધીયતે ॥ ૧૧૯ ॥
રત્નોપલમ્ભતજ્જ્ઞાનતત્પ્રાપ્ત્યાદિ યથાક્રમમ્ ।
ઇહોદાહરણં સાધુ જ્ઞેયં બુદ્ધ્યાદિસિદ્ધયે ॥ ૧૨૦ ॥

સદનુષ્ઠાન—જેનાથી અસંમોહ બોધ થાય તેનાં ચિહ્ન એ કે ઇષ્ટ પદાર્થો વિષે આદર—એટલે કે ખાસ પ્રયત્ન—યત્નાતિશય—તે કરવામાં પ્રીતિ, નિર્વિઘ્ન રીતે સંપત્તિની પ્રાપ્તિ (અર્થાત ઇષ્ટરૂપી સંપત્તિની પ્રાપ્તિ), ઇષ્ટ વિષે જિજ્ઞાસા અને ઇષ્ટની સેવા આદિ. અસંમોહ એટલે કે કોઇપણ જાતના આવરણથી રહિત, સ્પષ્ટ, સ્વચ્છ, પ્રત્યક્ષબોધ જે અનુષ્ઠાનથી—કર્મક્રિયાથી—પ્રાપ્ત થાય તેનાં આ લક્ષણ છે:

આદરઃ કરણે પ્રીતિરવિઘ્નઃ સંપદાગમઃ ।
જિજ્ઞાસા તન્નિસેવા ચ સદનુષ્ઠાનલક્ષણમ્ ॥

બોધના આ ભેદો પ્રમાણે માનવોના કર્મભેદો થાય છે, અર્થાત્ ઇન્દ્રિયજ્ઞાનથી જ ફક્ત વર્તનારનું વર્તન અને સદનુષ્ઠાનરૂપી પ્રયોગસિદ્ધિથી મળતા સ્પષ્ટ જ્ઞાનથી વર્તનારનું વર્તન—એકબીજાથી જુદું પડી જાય છે.

તદ્ભેદાત્ સર્વકર્માણિ ભિદ્યન્તે સર્વદેહિનામ્ ॥ ૧૧૮ ॥

સાંસારિક કર્મો બુદ્ધિપૂર્વક હોય છે—અર્થાત્ કર્મશાસ્ત્રના જ્ઞાનપૂર્વક થયાં હોય તો કુલયોગિઓને મુક્તિનું અંગ બને છે (એટલે કે જે કુલયોગિઓ નથી એમને નહિ); આ જ્ઞાનપૂર્વક કર્મો અસંમોહથી થયાં હોય તો તે એકાન્ત પરિશુદ્ધ હોવાથી નિર્વાણનું ફલ આપનારાં છે. (૧૨૪)

આચાર્ય હરિભદ્ર એમની આ બોધમીમાંસા સંસાર અને સંસારાતીત નિર્વાણતત્ત્વ પરત્વે ઘટાવે છે. પરંતુ આ સંસારાતીત અતીન્દ્રિય નિર્વાણતત્ત્વ કયા જ્ઞાનનો વિષય બની શકે એ ખુલાસો કરવો હજી બાકી રહે છે. તે વિષે તેમનું પ્રતિપાદન છે કે—

નિશ્ચયોઽતીન્દ્રિયાર્થસ્ય યોગિજ્ઞાનાદતે ન ચ ॥ ૧૪૧ ॥
ન ચાનુમાનવિષય એષોઽર્થસ્તત્ત્વતો મતઃ ।
ન ચાતો નિશ્ચયઃ સમ્યગન્યત્રાપ્યાહધીધનઃ ॥ ૧૪૨ ॥

આચાર્ય હરિભદ્ર ધીધન—બુદ્ધિધન—કહેતાં ભર્તૃહરિનો હવાલો આપી કહે છે કે આ અર્થવિષય તત્ત્વદૃષ્ટા

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અનુમાનનો વિષય જ નથી. અનુમાનથી બીજી બાબતોમાં પણ સમ્યગ્ નિશ્ચય થઈ શકતો નથી. અતીન્દ્રિયાર્થનો તો યોગિજ્ઞાન વિના નિશ્ચય છે જ નહિ.

અતીન્દ્રિય વિષયોમાં અનુમાનને અવકાશ નથી કારણ કે એનાથી કોઈ સર્વસંમત થાય એવા નિર્ણય ઉપર અવાતું નથી. આજની પરિભાષામાં કહીએ તો જેવું ઇન્દ્રિયજ્ઞાનાવલંબી ભૌતિક વિજ્ઞાનમાં સર્વ-વૈજ્ઞાનિક-સંમતિ તરફ જવાય છે, પ્રત્યક્ષતાની કસોટીને કારણ; તેવું એ ભૌતિક વિજ્ઞાનની પાછળ કલ્પાતા તત્ત્વો કે નિયમો એક પ્રકારે, અથવા બીજે પ્રકારે આત્મા, ઈશ્વર, ધર્મ આદિ અતીન્દ્રિય પદાર્થો અને એમની પાછળ રહેલા નિયમો કે તત્ત્વો, સમસ્ત વિશ્વનું તત્ત્વ કે તત્ત્વો, નિયમ કે નિયમો પરત્વે સંમતિની દિશા તરફ જવાતું નથી, કેવળ અનુમાનથી એ દિશા જડતી નથી. કાન્ટને ફિલસૂફીની સમાલોચનામાં ભિન્નભિન્ન મેટાફિઝિશિયનો પરસ્પરખંડન કરતા દેખાયા, તેમ ધીધન ભર્તૃહરિને પણ દેખાયા લાગે છે. એનો હવાલો આપી આચાર્ય હરિભદ્ર કહે છે : " કુશળ અનુમાતાઓ યત્નથી અમુક અર્થને અનુમિત કરે છે, તો બીજા વધારે કુશળ તાર્કિકો એને બીજી જ રીતે ઉપપાદિત કરે છે. અતીન્દ્રિય પદાર્થો જો હેતુવાદથી જણાતા હોત તો આટલા કાળમાં પ્રાજ્ઞોએ તેમનો નિશ્ચય કરી લીધો હોત."

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ १४३ ॥
शक्येरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ १४४ ॥

આમાં શાસ્ત્રપંડિત હરિભદ્રનો અંગત અનુભવ દેખાતો નથી ?

પણ આવો નિશ્ચય થયો નથી, તેથી શુષ્કતર્કગ્રહ, મિથ્યાભિમાનનો હેતુ થતો હોવાથી 'મહાન' મોટો છે, ભારે છે, (ટી૦ અતિરૌદ્ર) છે. મુમુક્ષુઓએ એને છોડી દેવો જોઈએ :

न चैतदेवं यत् तस्माच्छुष्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात् त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥ १४५ ॥

હરિભદ્રસૂરિની જ્ઞાનતત્ત્વની આ મીમાંસા છે. ઉપર આપણે જોયું કે કાન્ટની વિચારસરણી પ્રમાણે રીઝન (Reason)ની આ મર્યાદા છે. એ રીઝન એટલે કે ઇન્દ્રિયાર્થજ્ઞાન-નિર્ભર-અનુમાનપરંપરા, તર્કપરંપરા. અતીન્દ્રિયવિષયો—આત્મા, ઈશ્વર, ધર્મ આદિ માટે તો કેઈથિ (આસ્થા—ગૉસ્પેલના શાસ્ત્ર ઉપર આસ્થા) જ આલંબન છે. પણ શાસ્ત્રો પરોક્ષ છે, આસ્થા પરોક્ષ છે. ઇન્દ્રિયજ્ઞાનમૂલક બુદ્ધિ કે બોધના જેવું અતીન્દ્રિયનું નિશ્ચયજ્ઞાન તો યોગિજ્ઞાનમાં જ છે.

આમ આચાર્ય હરિભદ્રે ઇન્દ્રિય, આગમ અને સદનુષ્ઠાનથી થતા અનુક્રમે બુદ્ધિ, જ્ઞાન અને અસંમોહ એવા બોધનાં ત્રણ પ્રકારો કલ્પી ઇન્દ્રિયવિષયક જ્ઞાન તથા તન્નિર્ભર અને તત્પર્યવસાયી અનુમાનનું એક ક્ષેત્ર કલ્પ્યું. અતીન્દ્રિય માટે તો ઇન્દ્રિયો નથી જ એટલે અનુમાનથી એનો તર્ક કરી શકાય એવો સંભવ રહે—જેમ જગતના ફિલસૂફો કરતા આવ્યા છે. પણ હરિભદ્રસૂરિ ધીધન ભર્તૃહરિનો હવાલો આપી કહે છે કે અતીન્દ્રિયાર્થ અનુમાનનો વિષય જ ન બની શકે. અતીન્દ્રિય વિષે જો કાંઈ જાણી શકાય તો તે યોગિજ્ઞાનમાં જ. પશ્ચિમની પરિભાષામાં કહીએ તો મિસ્ટિકના જ્ઞાનમાં.

આ રીતે હરિભદ્રસૂરિની જ્ઞાનતત્ત્વની મીમાંસા ઇન્દ્રિયજ્ઞાન, અનુમાન, આગમ અને યોગિજ્ઞાનની ભૂમિકાઓમાં વ્યાપ્ત થાય છે, તેમને સાંકળી લે છે.

एतत्प्रधानः सच्छ्राद्धः शीलवान् योगतत्परः ।
जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः ॥ १०० ॥

જેમાં આસ્થા છે એવા આગમનો મુખ્ય આધાર રાખનાર સત્શ્રદ્ધાયુક્ત શીલવાન્ પુરુષ યોગતત્પર

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

થાય એટલે અતીન્દ્રિય પદાર્થોને જાણે છે : તેમ મહામતિએ કહ્યું છે. મહામતિ એટલે પતંજલિનો હવાલો આપી હરિભદ્રસૂરિ નીચેનો શ્લોક આપે છે, જે એમની જ્ઞાનમીમાંસાના નીચોડરૂપ છે; અને તેથી જ વારંવાર એમનાં અન્ય ગ્રંથોમાં આવે છે :

આગમેનાનુમાનેન યોગાભ્યાસરસેન ચ ।
ત્રિધા પ્રકલ્પયન્ પ્રજ્ઞાં લભતે તત્ત્વમુત્તમમ્ ॥ ૧૦૧ ॥[૫]

ટીકા પ્રમાણે આ ક્રમે—આગમ, અનુમાન, યોગાભ્યાસરસવડે પ્રજ્ઞાને જે કેળવે છે તે ઉત્તમ તત્ત્વને પામે છે. આમાં યોગાભ્યાસ છેવટે આવે છે. આગમ અને અનુમાનથી અતીન્દ્રિય પદાર્થોની કલ્પના કરી હોય પણ તેના યથાર્થસ્વરૂપનું જ્ઞાન તો યોગમાં જ થાય.

જિનોત્તમ વીર પણ યોગિગમ્ય છે એ એમના મંગલશ્લોકમાં જ હરિભદ્રસૂરિ જણાવે છે :

નત્વેચ્છાયોગતોઽયોગં યોગિગમ્યં જિનોત્તમમ્ ।
વીરં વક્ષ્યે સમાસેન યોગં તદ્દૃષ્ટિભેદતઃ ॥ ૧ ॥

* * * *

આચાર્ય હરિભદ્રની યોજનામાં આગમ અથવા શાસ્ત્ર અને ખુદ યોગ વચ્ચેનું જે તારતમ્ય છે તે પણ નોંધવા જેવું છે. પોતે વિવિધ સંપ્રદાયોના સાંખ્ય-યોગ-શૈવ-પાશુપત-વેદાન્તિક-બૌદ્ધ-જૈનના યોગાનુભવ અને પદ્ધતિના ગ્રંથોનું ઊંડું અવગાહન કર્યું દેખાય છે. યોગમાર્ગના એમના પોતાના અનુભવે અને બીજાઓને દોરવાની દૃષ્ટિએ તેમણે સ્વતંત્ર મનન કરી પોતાની એક નવી શૈલી અને નવી પરિભાષા પણ રચી છે. યોગની આઠ દૃષ્ટિઓ એ એમની પોતાની સૂઝ છે એમ પંડિત ડૉ૦ સુખલાલજી કહે છે તે સાચું છે.[૬] એ જ પ્રમાણે તેમણે યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયના પ્રારંભમાં યોગના ત્રણ પ્રકારો પાડ્યા છે : ઇચ્છાયોગ, શાસ્ત્રયોગ અને સામર્થ્યયોગ.

યોગ વિષે કાંઈ જાણ્યું હોય તે કરવાની ઇચ્છા થવી એવી ઇચ્છાવાળાનો—વિકલ અર્થાત્ અધૂરો ધર્મયોગ તે ઇચ્છાયોગ. (શ્લો૦ ૩). શાસ્ત્રમાંથી જે જાણ્યું હોય તેના તીવ્રબોધથી અપ્રમાદી શ્રદ્ધાળુનો યથાશક્તિ ધર્મયોગ તે શાસ્ત્રયોગ. શાસ્ત્રમાં સામાન્ય રીતે ઉપાય કહ્યા હોય છે તે પ્રયોગમાં મૂકતા પોતાની શક્તિના ઉદ્રેકથી—પ્રબલતાથી—શાસ્ત્રની ઉપર જઈ વિશેષતાથી જે ધર્મયોગ થાય તે સામર્થ્ય-યોગ. ત્રણમાં આ ઉત્તમ.

શાસ્ત્રસંદર્શિતોપાયસ્તદતિક્રાન્તગોચરઃ ।
શક્ત્યુદ્રેકાદ્ વિશેષેણ સામર્થ્યાખ્યોઽયમુત્તમઃ ॥ ૫ ॥

આચાર્ય હરિભદ્ર કહે છે કે સિદ્ધિપદની પ્રાપ્તિનાં કારણો તત્ત્વમાં શાસ્ત્રથી જણાતા નથી; યોગિઓથી જ સર્વ પ્રકારે જણાય છે.

સિદ્ધાખ્યપદસંપ્રાપ્તિહેતુભેદા ન તત્ત્વતઃ ।
શાસ્ત્રાદેવાવગમ્યન્તે સર્વથૈવેહ યોગિભિઃ ॥ ૬ ॥

આગળ જઈ કહે છે કે શાસ્ત્રથી સર્વ પ્રકારે સિદ્ધિ થતી હોત તો શાસ્ત્ર સાંભળતાં જ એવી સિદ્ધિ થઈ જાય. (૭). પણ શાસ્ત્ર ભણનારને એવી સિદ્ધિ થતી નથી તેથી પ્રાતિભજ્ઞાનયુક્ત સામર્થ્યયોગ અવાચ્ય છે; અને સર્વજ્ઞત્વ આદિ તત્ત્વોની સિદ્ધિ એનાથી થાય છે. પ્રાતિભજ્ઞાન એટલે ભાગોનુસારિનું

૫ આગમે અનુમાને ને યોગાભ્યાસરસે વળી
સંસ્કારે જે ત્રિધા પ્રજ્ઞા પામે તે તત્ત્વ ઉત્તમ.

૬ ભરતના નાટ્યશાસ્ત્રમાં જે આઠ કે નવ રસદૃષ્ટિઓ આવે છે—જેનો મૂર્તિઓ અને ચિત્રોમાં પણ વિનિયોગ થતો હતો તે ઉપરથી તેમની આઠ દૃષ્ટિની પરિભાષા સૂઝી હોય.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

પ્રકૃષ્ટ ઊહ નામનું જ્ઞાન; અથવા યોગબિન્દુની ટીકા(શ્લો૦ ૫૨ પૃ૦ ૧૧૪)માં કહ્યું છે તેમ સહજ પ્રતિભામાંથી[૭] જનગતું જ્ઞાન. આ પ્રાતિભજ્ઞાન પણ શ્રુતજ્ઞાનનો જ પ્રકાર છે, પણ વિશિષ્ટ પ્રકારનું છે.

न चैतदेवं यत् तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः ।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥ ८ ॥

આ ઉપરથી હરિભદ્રસૂરિનો મત સ્પષ્ટ દેખાય છે. શાસ્ત્રયોગ કરતાં સામર્થ્યયોગ જ ઉત્તમ છે. સર્વજ્ઞત્વ આદિ તત્ત્વો એ સામર્થ્યયોગમાં જ સમજાય છે, પ્રાપ્ત થાય છે.

૬

હરિભદ્રસૂરિના આંતરિક વિકાસનો ઉપર ઉલ્લેખ કર્યો. એમાં એક સ્થાન युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः—નું છે. યુક્તિ એટલે હેતુપૂર્વક વચન. આ હેતુવાદનું વ્યવહારમાં સ્થાન ખરું. પણ હરિભદ્રસૂરિ જે મધ્યસ્થતા—નિષ્પક્ષતા—પં૦ સુખલાલજીનાં શબ્દોમાં—'સમદર્શન' વ્યક્ત કરે છે તે તો મુખ્યત્વે અતીન્દ્રિય પદાર્થોના દ્રષ્ટાઓ પરત્વે જ સંભવે, અને અતીન્દ્રિય પદાર્થોમાં હેતુવાદ ચાલતો નથી; એમાં તો યોગાભ્યાસરસ અને યોગદૃષ્ટિને જ અવકાશ છે. અર્થાત્ હરિભદ્રસૂરિને જે સમત્વ પ્રાપ્ત થયું તે તેમના યોગપ્રાપ્ત દર્શનને લઈને હોય, અને એ એમના વિકાસનું બીજું સ્થાનક યોગદૃષ્ટ અધ્યાત્મ સ્થાનક ગણાય. હેતુભદ્ર તર્ક, શીલ, વૈરાગ્ય, યોગદર્શનની પૂર્વઅવસ્થાઓ ખરી, પણ અધ્યાત્મજ્ઞાન તો યોગદૃષ્ટ જ છે; અને આવું જ્ઞાન જ હરિભદ્રસૂરિને સર્વજ્ઞાનીઓમાં સમત્વનું—એકત્વનું ભાન કરાવે છે.

પોતે આ મુદ્દાનું પ્રતિપાદન સ્પષ્ટતાથી ભાર દઈને ફરીફરી યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયમાં કરે છે :

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः ॥ १०२ ॥
सर्वज्ञो नाम यःकश्चित् पारमार्थिक एव हि ।
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ १०३ ॥
न भेद एव तत्त्वेन सर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
तथा नामादिभेदेऽपि भाव्यमेतन्महात्मभिः ॥ १०७ ॥
संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तद्भेदकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ १२७ ॥
सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥ १२८ ॥

* * *

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥ १३० ॥

સર્વજ્ઞો બહુ છે એથી તેઓ તત્ત્વમાં ભિન્નમત છે એમ નથી. અધિમુક્તિ[૮] કહેતાં ભક્તોનો એ તો મોહ છે, તેથી સર્વજ્ઞોમાં ભેદ કરાય છે. સર્વજ્ઞ જે કોઈ હોય તે પારમાર્થિક જ છે. (કહેવાની ખાતર કહેલો નથી.) તે સર્વત્ર, વ્યક્તિભેદ હોવા છતાં, એક જ છે (૧૦૨–૧૦૩). ...સર્વજ્ઞ મહાત્માઓમાં નામ આદિથી ભેદ હોવા છતાં તત્ત્વથી ભેદ જ નથી. મહામતિઓએ આ સમજવું જોઈએ (૧૦૭). સંસારથી અતીત

૭ યોગદૃષ્ટિ સમુચ્ચયમાં આવતો शक्त्युद्रेकमां 'शक्ति' શબ્દ અને આ 'પ્રતિભા' પ્રત્યભિજ્ઞા દર્શનની પરિભાષા છે.

૮ મુદ્રિત પાઠ अविमुक्तीनां છે. પંડિત હો૦ સુખલાલજી સૂચવે છે કે 'अधिमुक्ति' (કે अधिमुक्त) પાઠ હોય. એ બૌદ્ધ પરિભાષાનો શબ્દ છે. એનો અર્થ મહાળુ કે 'ભક્ત' એવો થાય છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

એવું નિર્વાણ નામનું તત્ત્વ શબ્દભેદ હોવા છતાં (શબ્દભેદથી કહેવાતું છતાં) તત્ત્વમાં નિયમથી એક જ છે (૧૨૭). સદાશિવ, પર, બ્રહ્મ, સિદ્ધાત્મા, તથતા—એવા અન્વર્થક (ભિન્નભિન્ન) શબ્દોથી તે એક જ હોવા છતાં એ કહેવાય છે. સદા કલ્યાણકારી એ સદાશિવ શૈવોનું, પર એટલે પ્રધાન સાંખ્યોનું, બૃહત્ત્વ-મોટાપણાથી અને 'બૃંહકત્વ-ફૂલતું વર્ધમાન થતું' હોવાથી બ્રહ્મ-વેદાન્તીનું, સિદ્ધાત્મા-આત્મા જેમને સિદ્ધ થયો છે એવો સિદ્ધાત્મા આર્હતોનું, કાલના અંત સુધી તે પ્રમાણે રહેતી એવી તથતા બૌદ્ધોનું—(આ બધાં) એક જ તત્ત્વ છે. ભિન્ન શબ્દોથી કહેવાય છે એટલું જ (૧૨૮). અસંમોહથી (અર્થાત્ સદનુષ્ઠાનથી-સક્રિયાથી યોગની) તત્ત્વરૂપે આ નિર્વાણ તત્ત્વને જાણતાં વિચારશીલ પુરુષોમાં એમની ભક્તિ વિષે વિવાદ થતા નથી (૧૩૦).

વિપ્ર હરિભદ્ર-પુરોહિતને ઋગ્વેદની પંક્તિ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (મં૦ ૧, સૂ૦ ૧૬૪, ઋ. ૪૬) અપરિચિત તો ન જ હોય!

આ બધું એક છે છતાં તેમની દેશનામાં-કથનમાં ભેદ ક્રમ આવે છે તેનો ખુલાસો કર્યા પછી હરિભદ્રસૂરિ કહે છે કે જે અર્વાગ્દૃશો હોય છે (અર્થાત્ યોગદૃષ્ટિ જેમની ઊઘડી નથી એવા—આ તરફ જોનારા—પેલી તરફ જોનારા નહિ) તેઓ સર્વજ્ઞનો અભિપ્રાય જાણ્યા વિના તેમનો પ્રતિક્ષેપ કરે છે, તે યોગ્ય નથી. તે મોટો અનર્થ કરે એમ છે (૧૩૬); અને દાખલો આપે છે કે જેમ આંધળાઓએ કરેલો ચંદ્રનો પ્રતિક્ષેપ અસંગત છે તેમ અર્વાગ્દૃશોએ કરેલો સર્વજ્ઞનો ભેદ પણ અસંગત છે (૧૩૮).

तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम्।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥ १३७ ॥
निशानाथप्रतिक्षेपो यथान्धानामसङ्गतः।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥ १३८ ॥

સર્વજ્ઞ આદિ અતીન્દ્રિયાર્થ પદાર્થોનો નિશ્ચય યોગિજ્ઞાન વિના સંભવતો નથી. તેથી એ વિષેના વિવાદો અન્ધોના જેવા હોવાથી એમાંથી કાંઈ ફલિત થતું નથી.

निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च।
अतोऽप्यत्रान्धकल्पानां विवादेन न किञ्चन ॥ १४१ ॥

આ અતીન્દ્રિયાર્થ સર્વજ્ઞો વિષે સાંપ્રદાયિકોમાં જે વિવાદ ચાલે છે તેનાથી હરિભદ્રસૂરિ પર થઈ શક્યા છે તેનું કારણ અર્વાગ્દૃક્ તાર્કિકમાંથી યોગદૃષ્ટિવાળા આધ્યાત્મિક થયા હશે તેને લીધે હશે; અને એ દૃષ્ટિથી જ શુષ્ક તર્કનો પોતે ત્યાગ કરે છે એટલું જ નહિ પણ સર્વત્ર 'ગ્રહ'ને અસંગત ગણે છે કારણ કે મુક્તિમાં લગભગ બધા ધર્મો તજવાના હોય છે, તો પછી 'ગ્રહ'નું શું કામ છે?

ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसङ्गतः।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्याः किमनेन तत् ॥ १४६ ॥

७

ભારતવર્ષની પરંપરામાં વૈદિક, જૈન અને બૌદ્ધ તાર્કિકો—સમર્થ તાર્કિકો—અનેક થયા છે; એમ જ યોગિઓ, જ્ઞાનીઓ પણ અનેક થયા છે. પરંતુ જ્ઞાનતત્ત્વનું આવું વિશદ વિવરણ કરનાર બહુ નહિ હોય એવું મારા અલ્પ જ્ઞાનને લાગે છે. હરિભદ્રસૂરિએ પરમાદ્ભદર્શનનો 'મહતાં વર્ત્મ'-મોટાઓનો માર્ગ-સચવ્યો છે—જેનો આશ્રય લઈને વિચક્ષણોએ ન્યાયપુરઃસર અતિક્રમોથી બચી વર્તવું :

तदत्र महतां वर्त्म समाश्रित्य विचक्षणैः।
वर्त्तितव्यं यथान्यायं तदतिक्रमवर्जितैः ॥ १४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

મોટાઓનો આ માર્ગ ભારતવર્ષમાં જ છે એમ નથી; પાશ્ચાત્ય વિચારકોને પણ આ માર્ગ વ્યક્ત થયો છે. 'જે પરત્વે તાર્કિક ફિલસૂફો પરસ્પર જુદા પડે છે, તત્પરત્વે મિસ્ટિક સુફીઓ સંમત થાય છે.' એફ. સી. હેપોલ્ડ (F. C. Happold) એના 'મિસ્ટિસિઝમ—અધ્યયન અને મતસમુચ્ચય' (Mysticism—A study and an Anthology) નામના ગ્રંથના પ્રારંભમાં આ પરત્વે પોતાનો અભિપ્રાય આપતાં કહે છે કે " What, when one studies the mystical expressions of different religions, stands out most vividly, however, is not so much the differences as the basic similarities of vision. This is a phenomenon calling for explanation if any truly objective assessment of the significance of mystical experience is to be made." (p. 17).

" જુદા જુદા ધર્મોના મિસ્ટિકલ વચનોનો જ્યારે કોઈ અભ્યાસ કરે છે ત્યારે જે બાબત બહુ સ્પષ્ટ રીતે આગળ નીકળી આવે છે તે તેમના ભેદ એટલા બધા નહિ, જેટલી દર્શનની મૂલગત સમાનતાઓ. જો મિસ્ટિકલ અનુભવના તાત્પર્યનું સાચું વાસ્તવિક મૂલ્યાંકન કરવું હોય તો આ હકીકતનો ખુલાસો શોધવો જોઈએ."

આનો ખુલાસો હરિભદ્રસૂરિની જ્ઞાનતત્ત્વની મીમાંસામાં છે. અતીન્દ્રિયાર્થને વિષય કરતા યોગિજ્ઞાનને જ્ઞાનમીમાંસામાં (Epistemology) માં સ્થાન આપવાથી જ તે થશે,—સિવાય કે એ અનુભવોને ઇન્દ્રજાલ કે મૃગજલ સમું માની અવગણીએ !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Technical Sciences in Jaina Canons

*N.L. Jain**

The Numerically minor Jaina System of India under striver - tradition has over-contributed to enrich her science, technology and philosophy besides spirituale quaninity. Its early texts composed between 400 BC to 500 AD mention about six-fold learnings involving (1) agriculture and (2) technology of the days besides (3) warfare and weaponry, (4) ink-users, (5) physical, abstract sciences & arts and supernatural learnings[1] and (6) trade and commerce. In later literature, they mention about 220 subjects of studies which have grown from time to time to eke out living and practice religiosity.[2] This author has classified them under twelve current faculties and found nearly 17% of them form technical subjects like (1) civil engineering & temple architecture, (2) aircraft engineering, (3) Ayurveda or medical sciences, (4) home science and dairy products, (5) metallurgy, (6) Iconography and the like.

Civil Engineering

The Civil Engineering deals with town-planning. Many cities are mentioned in texts with details according to their overall shape (squared or otherwise). The length and breadth of the cities should very between i : 0.5-1.0.[3] The city is divided into sub-areas which contain quadrangular, circular or squared palaces, buildings, houses and temples with provisions of wells, lakes, lotus-pools, rivers, forests, parks, entry gates, arched gates, trenches, agricultural lands, meeting halls, dancing halls, delivery halls or hospitals, observation galleries, sports centres and boundary walls, etc.

In general, the building should have a ratio of 1 : b : h :: 1 : 1 : 1.5-2. Their doors should have this ratio as 1 : 1 : 2.[4] The dancing

*. Jain Kendra, Rewa, M.P. (India)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

halls should have a height of 12 times the height of men with a stage-size of 32 dancers' show. The meeting halls should have 1 : b : h ratio of 1.5 : 1 : 0.3, i.e. they should have a larger length then width or 1 : 1 : 0.25.Their doors should have 1 : 1 : 2 1-b-h ratio. The sports centres are halls with 1 : 1 : 2 ratio suggesting a predominance of indoor games.[5] The water reservoirs should be in the ratio of 1 : 2 : 0.2 in length, width and depth.[6] It has been stated that any city should have mountain on one side and river on the other side for security reasons in those days.

The royal palaces or richmens' buildings have been detailed well in contrast to common houses. The palaces should have (i) balconies, (ii) servants quarters, (iii) dressing rooms, (iv) prayer halls, (v) small/ large temple, (vi) amorous sports hall, (vii) delivery rooms, (viii) recreation rooms, (ix) sorts room and (x) park & plantation areas. In fact, the palaces are miniature cities within towns.The dimensional ratios and details are similar to the towns except that they are smaller in size in comparison. The individual buildings have a ratio of 2 : 1 : 3 (1 : 0.5 : 1.5/0.75) in terms of length, width and height depending on the shape and size of the buildings.[7] The doors of the houses should have a ratio 1 : 1 : 1.5 - 2.[8] The colours of houses are attractive but variable. Recently, the Jaina architect texts are found to mention 16324 types of houses with 60' x 70', 48' x 54', 42' x 40', 36' x 42', 30' x 36' and 24' x 90' sizes for people of different castes.[9] Different types of army-residences are also described under seventy two arts.

Temple Architecture

The shapes and sizes of Jaina temples (whether in towns or palaces) differ in dimensional details. Some simple formulae (i-iv) relating to their length, width and height, have been given in Jambudvipa Prajnapti[10] as below :

(i) 1/2 = b (ii) 2h - 50 = 1 (iii) (1+b)/2 + h (iv) (1+b)/h + foundation

In general, the temples are said to have 1 : b : h :: 1 : 0.5 : 0.75. The description of temples suggests that it has many parts inside and outside so as to have a natural and picturesque surroundings. The temple actual consists of (i) three doors (1 : 1 : 2), (ii) Sanctum

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sanctorum (1 : 1/4 : 1/2), (iii) Altar (1 : 1/8), (iv) Steps (1 : 1/2 : 0.4), (v) Seating or worship hall (1 : 1/2 : 1/6), (vi) Observation gallery (1 : 1 : 1/6) attached with the (vii) Meeting hall (1 : 1 : 1/4). It should have a mound (1 : 1.5) with odorus trees, a park, water-reservoir, arched gate and flags all around. The colours of the temples are also attractive but variable. It is clear that the dimensions of the temples are somewhat different in their ratios of 1 : b : h in compression to the general buildings.

The texts do not contain the indication of building materials except the final colour of palaces, buildings and temples.

Iconography

Jains have been mostly idol-worshippers. Hence idol-making of their worshippable ford-builders have been a developed technology since the pre-christian and post-christian days. There have been manynoted centres for Jaina iconography in India since the hoary past and it has developed as a science. There are many books dealing with this technology.[11] Two types of idols are made - (i) in standing posture and (ii) in sitting posture. The size of sitting posture is nearly half of the standing posture. Though early details are not available, but they are available from 10-11th century onwards. Many eastern and western scholars have worked on it. The idols are made of stones, quartz, sandalwood, marble, gems, brass, gold and other materials. Their h/b varies between 1.2 - 4.0. The measurements of different parts of idols are based on Angula (app. 1 cm.) units. A normal idol has 108-120 Angula size in standing posture while it will be 54-60 Angula size in sitting posture. Their measurements are tabulated below :

Table-1 : Measurements of idol parts

S.No.	*Parts*	*Standing Postures*	*Seating postures*
01.	*Mouth (Head to Mouth)*	*12 A*	*13 A*
02.	*Neck*	*4 A*	*3 A*
03.	*Neck to Heart*	*12 A*	*12 A*
04.	*Heart to Navel*	*12 A*	*12 A*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

05.	*Navel to genital organs*	*12 A*	*12 A*
06.	*Genital organs to knee*	*24 A*	*4 A*
07.	*Knee*	*4 A-*	
08.	*Knee to Ankle*	*24 A*	-
09.	*Ankle (Ankle to base of the feet)*	*4 A*	-
		108 A	***56 A***

It is not only the gross parts whose measurements are given. The finer measurement details of each and every part like head, forehead, ears, eyes, nose, thigh etc. are also given for which the reader is referred to the references given above. In later periods, the main images were made with their associated guardian deities etc. For larger images, these measurements should be taken as ratios between different parts.

Aeronautics

Even the early Jaina texts describe about the planes flying in air. They have circular, triangular and quadrangular shapes. They may also haves squared, svastika, conch, lotus, swan and eagle shapes.[12] They may have different colours. They can be used for travel and temporary residence also. There may be some planes moving in water also. Their sizes are variable but the general length to breadth ratio is approximately 4 : 1.[13] The airport should have a size of 11 times the length of the planes.[14] Bharadwaja has refered two sanskrta texts 'Agastya Sanhitā' and 'Yantra-Sarvasva' containing a section on aeronautics. This section has 8 chapters, 100 sub-chapters and 500 aphorisms or verses. The details of its contents can be found in the introduction of Detailed History of Jaina Literature, vol. 5 (PVRI, Varanasi, 1969, Hindi) which have not been studied properly. The technical Sanskṛta scholars should come forward in this matter.

Other Technical Sciences

There are quite a number of (one hundred) technologies mentioned in Jaina canons.[15] Upāsakadaśā gives details of making ceramic wares through potters wheel after kneading the soils, mixing the knead with cowdung and ashes and baking them in open kilns.[16] Kundakunda (2nd century AD) mentions five types of fabrics made from silk-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

fibers, cotton fibers, woolenfibers (of camel, goat and sheep etc.), tree barks and leather (of lion, leopard, elephant and deer etc.). The mordanting of fabrics by natural colours was also a common technology.[17] Ink was also produced from naturally colored products. Kundakunda also mentions metallurgy of gold and some other metals.[18] The technology of fireworks, oil extraction and lac production was also known as they are included in 15 professions by Asadhara of 13th century.[19] The manufacture of weights and measures was also a trade. Gems and gemology is mentioned in many references.

The seventy two arts for women mention a number of arts to be learnt by them in the area of home science involving 26 arts. They include (i) cosmetics[20] (from natural products like turmeric, myrtle, etc.), natural and perfumed hair-oils, hair-tonics, shampoos, (Triphala, Shekakai, Ritha etc.), hair-dyes etc. (ii) soft and medicated drinks, (ii) dairy products and fermentation technology (from 23 sources, butter and rejuvenating preparations like Cyavanaprāśa. The details of many of them are found in literature.

The indigenous medical science was quite developed contemporarily. There was a well established medical preparation technology for powdered, decocted mixtures and solution medicines.[21] The multiply-boiled extracts or fermented mild-alcoholic extracts (like Āsavas, Ariṣtas etc.) of Āyurvedic medicines showed a high technical know-how.

One, thus, finds a large number of technical sciences described in Jain canons. However, it must be kept in mind that the different skills were based on caste and family and they kept it a trade secrete. Hence normal details as expected today are not found in canons. Still one has sufficient stray qualitative and, in some cases (i.e. medical preparations), quantitative details which lead to a guess of their empirical nature. Secondly, Jaina canons represent the age of natural products and, hence, most of skills were based on their utilization for serving the cause of humanity. These should be deeply studied with historical perspective. The deficiencies there have led to the current age of better technology.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

References

1. Varni, Jinendra, *Jainendra Siddhānta Koṣa-4,* BJ, Delhi 1998, p. 420.
2. Jain, N.L., *Scientific Contents in Prākṛta Canons,* PVRI, Varanasi 1996, p. 87.
3. Ācārya, Padmanandi, *Jambudvīpa Prajnapti,* JSS, Sholapur, 1958, pp. 5, 122, 171, 66, 68, 88, 223, 90.
4. Ācārya, Yativṛṣabha, *Triloka Prajnapti-1,* Ibid, 1953, pp. 147, 239, 146, 357, 397, 413.
5. Ācārya Padmanandi, *Jambūdvīpa-prajñapti.*
6. Ibid.
7. Ācārya Yativṛṣabha.....
8. Ibid.
9. Vishuddhumatiji, Vattuvijjā, Jain Mahasabha, Lucknow 1995.
10. Ācārya Padmanandi, *Jambūdvīpa-prajñapti.*
11. Jain, Balchandra, *Pratimā Vijnāna,* MM General Stores, Jabalpur 1974, pp. 21-22.
12. (a) Svāmī, Sudharmā, *Sthānānga,* JVB, Ladnun 1976, p. 227.
    (b) See, Ref. 3, p. 97.
    (c) See, Ref. 4, p. 790.
13. Ācārya Padmanandi, *Jambūdvīpa-prajñapti.*
14. Ibid.
15. Svāmi, Suddarmā, *Sthānānga,* JVB, Ladnun 1976, pp. 853, 877.
16. Svāmi, Sudharmā, *Upāsakadaśā,* APS, Beawar 1980, p. 137.
17. Varni, Jinendra, *Jainendra Siddhānt Koṣa-3,* BJ, Delhi 1993, p. 531.
18. Jaina, N.L., In *Jaina Vidya Evam Prākṛta,* S.S. University, Varanasi 1987, pp. 198-200.
19. See, Ref. 1, p. 421.
20. See, Ref. 2, p. 113.
21. Ibid, p. 527.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Divine Essence of Arhat and Tirthankara

*Dr. Mukul Raj Mehta**

The word 'Arhat' generally means a holy, accomplished, a liberated sage, an illustrious, a Divinity. The 'Arhat' is one who has destroyed the enemy (ari) viz anger, deceit, delusion and aversion. Arhat is endowed with four infinite virtues viz., vision, knowledge, bliss and power (darśana, Jñāna, sukha and vīrya). He has destroyed impurity caused by ghati karmas viz., knowledge obscuring (Jñānāvaraṇa karma), vision obscuring (darśanavarṇa karma), deluding (mohanīya karma) and energy obscuring (antarāya karma).

The word Arhat is variedly referred as Arhanta, Arihanta, Arahanta. Arhat is vītarāgi which means he is free from Rāga (attachment). Arhat is jina, he who conquered on account of conquering the anger, conceit, greed and pride. He is one who has destroyed the seed of all karma.[1] Arihanta, the annihilator of Ghātikarma is like the sun for the lotus for releasable souls (Bhavyas) existent in the universe and possess infinite knowledge and bliss.[2]

Arhat is the holiest saint, accomplished teacher, all knowing supreme self. He is free from mundane pleasure, pain, misery, attachment and aversion.[3] Arhat is blessed with four fold infinities (Ananta caṭuśtaya) after destroying the four ghāti karmas and it is the culmination of the faculties and energy of the soul.[4] Arhat is supreme among yogins par excellence.[5] Arhat though is with Aghāti karma, lives, in eternal bliss in this universe. From the transcendent point of view, an Arhat is without body; but from ordinary point of view, he possess Audārika śarīra which is very shining and glowing.[6]

As stated in Jainendera Siddhānta Kośa Arhats are either Sāmānya Kevalins (ordinary Omniscients) or Tīrthaṅkaras.[7] Ordinary Omni-scients are of two types viz., Pratyeka Buddha and

*. Researh Scientist 'B', Philosophy Deptt., B.H.U.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Buddhabodhita. In the Jaina text, Samavāyānga Sūtra,[8] we find the usage of the word Pratyeka Buddha (Patteya Buddha). In Uttrādhyayan Sūtra, Karakaṇḍu, Dumurkha, Nami and Naggatti are termed as Pratyek Buddhas.[9] In Isibhāsiyaim Suttam, the forty five ascetics are referred as Pratyeka Buddhas.[10] To attain the status of Pratyeka Buddha, no external source of inspiration is required. While, Buddha-Bodhita is an ascetic who attains liberation under guidance of a spiritual teacher.

Tīrthaṅkara

This word is very often used which means a Divine sage, who makes a bridge (tīrtha) to cross over the ocean of pain suffering, misery and transmigratory existence. The word 'Tīthayara' is found in Uttrādhyayana Sūtra.[11] Tīrthaṅkara Ariṣṭanemi is titled and prayed as saviour of supreme lord of Dharma (Logannahe Damīsare)[12] Tīrthaṅkara is reviver of the Jaina faith. The Tīrtha is also understood as holy place. He establishes the 'Tīrtha' or 'Saṁgha' which is constituted of sādhu (monk), sadhvi (nuns), śrāvaka (layman), śrāvika (lay woman). A Tīrthaṅkara or an Arhat has one thousand and eight names. e.g. vītaraga, sarvajña, Jina, kevalin, buddha, mukta etc. The texts Mahāpurāṇa by Ācārya jīnasena and Guṇbadra and also Jinasahasranāma composed by Āśādhara, mention 1008 names of Jina.[13]

The follwoing twenty observations jointly or severally are the causes of Tīrthaṅkar-nāma-karma.[14] Which leads the jiva to become Tīrhaṅkara : (1) Reverance to Arhant, (2) Reverance to Siddha, (3) Reverance to Pravacana, (4) Reverance to Preceptor Guru, (5) Reverance to aged Monks, (6) Reverance to highly learned, (7) Reverance to ascetics, (8) Constant use of knowledge, (9) Purity of right faith, (10) Modesty towards knowledge, (11) Daily practice of 6 essential religious activities, (12) Observance of vows, (13) Renouncing the world, (14) Observing austerity, (15) Offering to competent personage, (16) Ceaseless pursuit of knowledge, (17) Providing easement to all asetic sages and adopt equanimity, (18) Providing easements to fourfold religious order, (19) faith or belief in scriptural texts, (20) Spreading the pravacana.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The difference between ordinary kevalin and a Tīrthaṅkara is that the Tīrthaṅkara preaches and propogates the Dharma, the law, and forms a community caturvidh saṃgha of monks, nuns, laymen and laywomen in order to show the right path, the path to attain Mokṣa, Divinity whereas the ordinary kevalin cannot be the propounder of a religious faith. It is due to the attainment of Tīrthaṅkara nāma karma that a Tīrthaṅkara becomes the propogator or reviver of a religious faith for a considerable period for suffering humanity. Upadhyāya Amarmūni observes that Tīrthaṅkara possesses Loka-upkāri Siddhis[15] and leaves permanent impression. In fact, ordinary Arhat and Tīrthaṅkara do not differ in the spiritual experience viz., infinite bliss, virtues but, in certain excellences in external attributes, events, etc.

Excellences

Arihantas (variently terms as Tīrthaṅkara) are those who are worthy of obeisance, worthy of adoration, and supreme among gods in the world".[16] The Arhat body which is perfect stainless or Nirañjana an abode of omniscient and which is about to throw away the last shackles of karma (aghātikarma), receives worship (or Arha) on five excellent events from heavenly beings.[17] The five auspicious events (Pañca kalyāṇaka Mahotsva) in the life of Tīrthaṅkara (conception, birth, renunciation, attainment of omniscience and nirvān) are excellent non-routine events.[18] These five celebrations of worship are not done for ordinary kevalins.

Divine Attributes

The twelve Divine attributes of Arahant, the omniscient are 1. Infinite knowledge, 2. infinite vision, 3. Infinite Bliss. 4. Infinite Power, 5. Divine Ashoka tree, 6. Siṃhasanaṃ (Patrition), 7. Triple Umbrella, 8. 64 Pair of celestial Indras, 9. Shining arb-prabhāmaṇdala, 10. Rain of Flower, 11. Divine Utterance or sound (Divyad wani) 12. Divine music. The later eight attributes of the Divine Arhat are also known as Aṣṭa Prātihāryas, eight exceptional adorations.

Devoid of Evils

Arhat, the Divine, is devoid of eighteen kinds of defects or evil, which are found generally in the worldly beings, are listed in various

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

texts :

Abhidhāna Rājendra Kośa enumerates 18 dośas : 1. Dāna-Antarāya (obstacle to give charity) 2. Lābha-Antarāya (hindrance to gain) 3. Bhoga-Antarāya (obstacle to enjoyment), 4. Upbhoga-Antarāya (Hindrance to power), 6. Mithyātva (Wrong belief), 7. Ajñana (ignorance), 8. Avirati (vowlessness), 9. Kamaicchā (sexual enjoyment), 10. Hāśya (laugh), 11. Rati (inclination towards demerits), 12. Arati (noninclination for merit), 13. Śoka (sorrow), 14. Bhaya (fear), 15. Jugupsā (disgust), 16. Rāga (attachment), 17. Dveśa (aversion), 18. Nidrā (sleep).[19]

Realisation of Divinity : The Essence of Jainism

The Pañcanamokāramaṅtra is the essence of Jaina faith.[20] The recitation of maṅtra is a form of pūjā (adoration) of the five Holy or Divine Personages; a mode of bhakti, or an act of sharing in the divine glories of the Holy beings; an act of declaring and affirming faith, belief and convictions in the doctrines and practices of Jainas to attain the Divinity.[21] Dr. William considers Pañcā-namaskāra as the aparājitamantra.[22]

The offering of prayers to and meditation on the five pada are reverences to the essential attributes of the five Divinities only and not the person. It is strong faith of the jainas that Divinities (Pañcāparameṣṭins) neither can remove the karma of the devotee nor even can fulfil the wants, desired by him.

The offering of prayers to and the meditations of the Gods in Jainism-as in the highest form of a rational religion, are perfectly disinterested. No favours are sought from the God or the Gods and the result of the Divine worship is simply the development and perfection of one's own self. Ācārya Hemcandra observes that Stuti (devotion) purifies the knowledge.[23] Jainism believes that neigher the Tīrthaṅkara can give any object nor can release the sinner. In Hinduism, the Lord Kṛṣṇa in Bhagvad Gīta declares 'just surrender unto me and I shall save you from all sins.'[24] A Tīrthaṅkara in Jainism does not make such promises and does not give boons but gives the guidance and directs one to realize the truth and thereby achieve for

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

himeselfthe salvation. He cannot release the sinner and fulfill the desires of devotees for worldly objects. One suffers or enjoys the consequences of his own doings. As he sows, so does he reap, Therefore, Karmaphala is not granted by the Bhagwan or God. Bhagwan Mahāvīra syas, "There is no escape from the karma already floated" -- Kaḍāṇa kammāṇa na mokkha atthi.[25]

Ācāya Hemcandra Sūri observes, 'Prayer or recitation of Pañca Parameṣṭi Maṅtra purifies the mind and speech. They are prayed for not fulfilment of worldly desire and for getting rid of any misery but it is for the purification of one's own mind and to get embodied one's self the qualities of Pañca Parameṣṭins'. Pt. Sukhlal ji rightly observes, 'They are saluted for the acquirement of virtues. They are themselves virtuous and one acquires these virtues by saluting them. This is because the aim Dhyēya and the person aiming Dhyāta become similar. This salutation is dualdvaita and non-dual-advaita i.e. two fold. When the fact is that specialised type of higher steadiness is not attained and the individual feels and experiences that he is a devotee and someone else is object of devotion, it is dvaita salutation. Once the options Rāga (attachment) & Dveśa (aversion) are annihilated, the mind becomes so steady that Ātman looks upon its own self as an object of devotion, and concentrates only on its own form. This is advaita salutation of these two, naturally advaita salutation is superior because dvaita saluation is only a means to the advaita salutaion."[26]

Further A.N. Upadhye remarks : The aspiring souls pray to him, worship him and medidate on him treating Him as an example, as a model, as an ideal so that they too might reach the same condition.[27] Thus, from the glory of praises and hymns, the soul obtains wisdom consisting of right knowledge, faith and conduct. Endowed with this wisdom, it makes itself worthy of final exit to realize the Divinity.[28]

To sum up the above, the eternal and Divine message of the Arhats are propogated and practiced by the Ācārya, the upadhyāya and the sādhu, the high souled beings. In the Siddha, Divinity, or the pure character of self has been realised but he does not proclaim it. The Arhat also has attained Divinity but it is He who at propitious time, faithfully reveals in what way he has realised the same. Thus, Siddha

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

is Supreme Divinity as a transcendent and un-revealing Reality while Arhat is also a great Divinity, the Transcendental Revealer.

References :

1. Ācārya Ghasilal, *Āvaśyaka Sūtra, Munitosani-tika,* p. 46.
2. *Śramana Sūttam Cayainka* 7.
3. *Pravacansāra,* I. 13.
4. Ramjee Singh, *The Jaina concept of omnipresence,* p. 82.
5. Ācārya Hemacandra, *Yogaśāstra* : 1.
6. *Dravyasaṃgraha,* 50.
7. *Jainendra Siddhānta Kośa,* Vol. I., p. 136.
8. *Saṃavāyānga Sūtra,* verse, 547, p. 187.
9. *Uttarādhyayana Cūrrni,* 18-6.
10. *Isibhāśiyam Sūttam,* Appendix-1, p. 204.
11. *Uttarādhyayana Sūtra,* xxii : 26, 27.
12. Ibid, xxii, 4.
13. *Jinasahasranāma* of Āśādhara.
14. *Nāyā Dhammakahao* (Jñāta Dharma Kāthā), 1.8.14.
15. Upādhyya Amarmūni; *Jainatva ki Jhānki,* p. 53.
16. *Mūlācāra,* gāthā 505 (arahanti namokkaram arihā pujjā surauttmā loe).
17. Bhatacharya, H., *Jaina Prayer,* p. 27.
18. *Dhavalā,* 13-5, 101-366 Haribhadra's *Pañcāśika* 424.
19. *Abhidhān Rājendra Kośa,* Vol. iv, p. 2248.
20. Roth Gustav, Notes on Pañcanamokkāra -- *Parama maṅgala in Jaina Litereture.* Adyar (Madras Library Bulletin xxxviii, Mahavira Jayanti Bulletin.
21. Joshi, L.M., *The facets of Jaina Religiousness in comparative light,* p. 45.
22. Williams, R., *Jaina Yoga,* p. 185.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

23. Ācārya Hemcandra, *Veetrāga Stotra,* 1.6.
24. *Bhavgadgīta,* xviii. 66.
25. *Uttarādhyayana Sūtra,* iv.13.
26. *Essence of Jainism,* p. 140.
27. Upadhye, A.N., *Paramātmaprakaśa,* Introduction, p. 34.
28. *Uttarādhyayana Sūtra,* xxix. 14.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Anekasandhānakāvya

*Dr. Ashok Kumar Singh**

Aneka means many, much and *Sandhāna* is joining, uniting. In fact, joining or uniting of many meanings in a single composition is *Anekasandhānakāvya*. The richness and multiplicity of word meanings as well as the long compound formation worth split in many ways, is one of the salient features of Sanskrit language. A genre of composition, employing this varied richness of Sanskrit, fusing more than one story in its structural pattern, is *Anekasandhānakāvya* or composition. The minimal stories woven in this form of literature are two, known as *Dvisandhānakāvya* or the poem of double entendre. *Sandhāna* works are invariably in Sanskrit in Vedic tradition, while a few Prakrit gāthas with multiple meanings are also available, besides Sanskrit works, in Jaina tradition. The *Dvisandhāna* by Ācārya Daṇḍin (7th cent. A.D.), mentioned in *Śṛngāraprakāśa* of Bhojadeva (fl. c. 1000-1055) not available today, is the earliest work, of this form. Among the extant works in this tradition, the *Rāghavapāṇḍavīya* (1173 AD), depicting the two stories of the Rāmāyaṇa and Mahābhārat, through the same word collocation by Kavirāja may be treated as the earliest. Jaina work *Dvisandhānakāvya* of Dhanañjaya (9th cent. A.D.) may be treated as the first available work of this genre in both the traditions i.e. Vedic and Jaina. The other prominent *Sandhāna* works of Vedic tradition are: *Pārvatīraukmaṇīya* (1126 AD) by Vidyāmādhava, *Rasikarañjana (Śṛngāra-Vairāgya)* (1467 AD) of Ramacandra, *Kṛṣṇa-Vilomakāvya* (1485 AD) of Sūryakavi, *Rāghavayādavapāṇḍavīya* and *Pañcakalyāṇacampū* (1529 AD) by poet Cidambara, *Yādavarāghavīya* by Venkaṭādhvari (17th cent. AD) and *Rāghavanaiṣadhīya* of Haradatta (18th cent. AD). Besides, Vedic tradition is also enriched by some undated *Sandhāna* works viz. four works with the same title, *Rāghavayādavīya* of Someśvara, Raghunāthācārya, Śrīnivāsācārya and

*. Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vāsudeva, *Abodha-Ākara* (18th cent. AD) of Ghanaśyāma (18th cent. AD) and *Hariścandrodaya* by anonymous. The Jaina tradition also owns a good number of works of this genre. In fact, the beginning of fusing more than one context in a single composition in this tradition dates back to 5th-6th cent. A.D. The *cattāri aṭṭagāthā*, occurring in *Vasudevahiṇḍi* of Saṅghadāsagaṇi (c. AD 6th cent.) may be applied to 14 different contexts. An eminent Jaina scholar Late Agaracanda Natha categorised Jaina Sandhāna works in three groups : (1) *Śleṣamayakāvya* (2) Individual words, sentences, verses and (3) *Pādapūrti* literature. The Jaina Pādapūrti literature may be treated as *Sandhāna* works of double entendre because the authors have so moulded particular line or lines of another's work or verse as to connote a different meaning than that intended by the original author. This *pādapūrti* literature may be broadly classified as based on (A) Jaina works and (B) Non-Jaina works. The works of first group may be further grouped as those pertaining to (a) *Kalyāṇa-Mandirastotra* of Siddhasena Divākara, (b) *Bhaktāmarastotra of Mānatuṅgācārya,* (c) *Sansāradāvānalastuti* of Haribhadra and (d) other Jaina stotras, stutis, *Vijñaptipatras.* Likewise, works of (B) group may be sub-classified into two groups: (a) Jaina works adopting famous non-Jaina works viz. *Meghadūtaṁ* of Kālidasa, *Kirātārjunīyaṁ* of Bhāravi, *Śiśupālavadhaṁ* of Māgha, *Naiṣadhīyacaritaṁ* of Śriharṣa etc. epics and (b) Jaina works employing some non-Jaina stotras. The detail of this genre of literature Pādapūrti Literature will appear in separate article in comeing issus of this quarterly.

However, the Jaina literature of the Sandhāna category has been treated herein under following groups: (1) Independent works : Kāvyas and stotras, (2) Single verse compositions, (3) Interpretation of single words, (4) Interpretation of well known Jaina and Non-Jaina mantras, (5) Interpretation of verse or verses occurred in famous Jaina and Non-Jaina works and the commentaries. A brief survey of this Jaina Sandhāna literature is made in the following lines :

(1) The Kāvya works of multiple entendre include those of double, tripple, quadruple, five, seven, 24 and 25 entendre. The list of *Dvisandhāna* works includes *Dvisandhānakāvya* of Dhanañjaya (9th cent. AD). *Ṛṣabhanemikāvya* of Sūrācārya (1023 AD). *Nābheyanemikāvya* by Hemacandrasūri of Bṛhadgaccha (12th cent. AD), *Rāgha-*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

vanaiṣadhīyaṁ of Haradattasūri (first half of the 18th cent. AD) and *Hariścandrodaya* of Anantasūri. The works of *Catuḥsandhāna* or quadruple entendre include *Nalayādavarāghavapāṇḍaviya* (12th cent. AD), *Catuḥsandhānakāvya* and *Catuḥsandhāna* by Digambara poets Manohara and Śobhana, respectively. of five entendre. Alone work by Digambara poet Śantirājakavi (11th cent. AD) in Kannaḍa is available. Among those of seven entendre *Saptasandhānakāvya* by Hemacandra, not available today and *Saptasandhānakāvya* (1671 AD) by Meghavijayagaṇi, may also be mentioned. The poet Jagannātha, pupil of Narendrakirti is ascribed to the authorship of two *Sandhāna* works : *Saptasandhāna* and *Caturvinśatisandhāna,* the latter expressing the sense of 24 Tīrthaṅkaras, simultaneously.

Some of the prominent available hymns of the sort of *sandhāna* works are : *Navakhaṇḍapārśvastava* by Jñānasāgarasūri, *Navagrahagarbhitapārśvastavana, Pārśvastava,* containing two meanings and *Trisandhānastotra* of tripple entendre in Sanskrit by Ratnaśekharasūri (15the cent. AD), *Vividhārthamaya-stavasarvajña,* by Somatilakasūri, *Sādhāraṇajinastuti* and *Pañcatīrthīstuti* of Meghavijayagaṇi and *Pārśvastavana* of Jinaprabhasūri.

(2) In the next category of *Sandhāna* works are the single verse compositions with a large number of interpretations. A Prakrit gāthā by Bappabhaṭṭaisūri (9th cent. AD), containing 108 meanings, is the earliest. A single Sanskrit verse by Somaprabha, *Śatārthakāvya* (1177 AD) is interpreted in 100 ways. Other single verse compositions include those by Jinamāṇikyasūri (1482 AD) containing 100 meanings, *Pañcārthakaśloka* by anonymous, applying to five different deities and *Aṣṭalakṣī* (1592 AD) by Mahopādhyāya Samayasundaragaṇi with more than 12 lacs meanings. Again, a few single verse compositions entitled *Śatārthī* including that by an anonymous and by Mānasāgarasūri, the pupil of Buddhisāgarasūri, during the reign of Hīravijayasūri of Tapāgaccha, are also available. These contain 100 interpretations, as referred to in *Jinaratnakoṣa* The poet Lābhavijaya explained the verse: *Tamo Durvārarāgādi vairivāra nivāraṇe. Arhat yogināthāya Mahāvīrāya tāyine* in many contexts.

(3) Jaina Ācāryas interpreted the particular words in various

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

meanings. The words attempted by Jaina Ācāryas are *Savvattha* by Upādhyāya Guṇavijayagaṇi in 117 contexts, *Hari* occurring in *Vītarāgastava* by Vivekasāgaragaṇi in the context of 30 Jaina deities as well as in *Stambhapārśvastava* (1200 AD) by Nayacandrasūri in 14 contexts, *'go'* by anonymous found in a single verse in 4 contexts, *Parāga* in *Sādhāraṇajinastava* by Lakṣmikallolagaṇi in 108 meaings and *Sarasvatī* in *Yugādistava* by *Jinamāṇikyagaṇi*. The term *Navakhaṇḍa*, occurring in *Navakhaṇḍapārśvastava* of Jñānasāgara, *Śarma* by anonymous in the *Pārśvastava*, *Mahāvīra* in the 8th gāthā of *Vīrastotra*, *Paravāya* by Ratnaśekharagaṇi in 56 contexts, *Godhūlika* by Bhāvaprabhasūri in 41 contexts and *Sāraṅga* by Guṇavijayagaṅi and by an anonymous, occurring in *Mahāvīrastava* and in *Ṛṣabhastava* in many ways, respectively have been explained by Jaina Acāryas. Evidently, these words, picked up and explained in different connotations by the Ācāryas, occurred in different works, hymns etc.

(4) Some Jaina Ācāryas, viz. Muni Guṇaratna and Pt. Harṣakula, both have explained the first pāda of *Pañcaparameṣṭhimantra* in 100 meanings while Śubhatilaka has explained Vedic *Gāyatrīmantra* in 5 connotations.

(5) Jaina Ācāryas have chosen verse or verses from the reputed Jaina as well as non-Jain works and applied them to multiple contexts. Three verses of the *Yogaśāstra* of Ācārya Hemacandra were interpreted by three Jaina Ācāryas. Jaina Ācārya Mānasāgaragaṇi explained the verse 2/12 in 106 contexts. According to Jayadevasūri, its verse 2/85 contained 100 meanings while Lābhavijayagaṇi and Meghavijayagaṇi (1615 AD) both interpreted the verse (1/1) in 500 and 700 contexts, respectively. The 87th verse of *Kumāravihārapraśa-stikāvya* by Varddhamānagaṇi, pupil of Hemacandra, was so composed as to connote 6 contexts. It is remarkable that his pupil explained it in 116 contexts. According to *Upadeśaratnākara*, Udayadharmagaṇi 1548 AD, pupil of Lāvaṇyavijaya of Tapāgaccha, extracted the 51th gāthā of *Upadeśamālā* of Dharmadasagaṇi and interpreted it in 100 contexts. Samayasundaragaṇi (1592 AD) collected 7 verses from the benedictory portions of *Kumārasambhava* and *Meghadūta* of Kālidāsa, *Śiśupāla-vadha* of Māgha, *Tarkaśāastra*, *Saptapadārthi* and *Vṛttaratnākara*. He explained these as eulogies of Tirthaṅkara Pārśvanātha. Likewise, the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

first verse of *Ṣaḍdarśanasamuccaya* of Ācārya Haribhadra (7th-8th cent. AD) was explained by Guṇaratnasuri in five different contexts. The detailed account of the prominent Jaina Sandhāna works is as follows:

(1) Independent works: Kāvyas and Stotras

Dvisandhānakāvya also called *Rāghavapāṇḍavīya* is composed by Digambara Dhanañjaya (9th cent. AD) containing 18 cantos, it depicts the stories of Rāmāyaṇa and Mahābhārata, simultaneously. After salutation to two T. 'hankaras Muni Suvrata and Neminātha and goddess Sarasvati, the poet, simultaneously, describes the cities of Ayodhyā and Hastinapur, the two kings Daśaratha and Pāṇḍu, the birth of Raghavas and Kurus. Then it depicts the detachment of king Daśaratha and Pāṇḍu on attaining old age and their going to forest, the assasination of demons Khara and Dūṣaṇa by Rama and Lakṣamaṇa and rescuing the cows back by Arjuna and Bhima from Kauravas after a ferocious battle, the kidnapping of Sita by Rāvaṇa, the killing of Sāhasagati by Rama at the request of Sugrīva and the fight against the army of Jarāsandha by Kṛṣṇa, the lifting up the Koṭiśila by Lakṣmaṇa and Kṛṣṇa, sending of Hanumāna by Rāma and Śriśaila by Śrīkṛṣṇa, as messengers, respectively to Rāvaṇa and Jarādsandha, the march of armies to Laṅkā and Saurāṣṭra, the battles fought between the armies of Rāma and Rāvaṇa, Śrīkṛṣṇa and Jarāsandha and the coming back of Rāma with Lakṣmaṇa and Sītā to Ayodhyā, Śrīkṛṣṇa to Hastināpur, after having killed Rāvaṇa and Jarāsandha, respectively.

This work departs from other Jaina epics in not depicting the previous births of its heroes as well as the tenets of Jainism, altogether an essential feature of Jaina Mahākāvyas. Of the style, the poet himself asserted that it should be full of all the sentiments, figures of speech, deep meanings, qualities of sweetness etc. and should be poetically and grammatically correct. Significantly, despite the handicap of Śleṣa, the poet's style is lucid and playful. The richness of vocabulary, wealth of description, profusion of epithets, similes and onceits and frequency of learned allusions are distinctive of Dhanañjaya. The richness of the poet's fancy is unquestioned. Even the most general beliefs have been expressed in fanciful way. The poet like Māgha has used the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yamakālaṅkāra in some of the verses with a master hand. Dhanañjaya applied about 31 meters in his kāvya and used a large variety of figures of speech. Though its main sentiment is heroic yet the poet delineated all the sentiments skilfully. This work is one of the earliest available among works of double entendre in Sanskrit literature and has influenced many later authors. **Pub.** The text with comm. Kāvyamālā Series No. 42, Bombay, 1895. // Text with the comm. of Nemicandra, Bhāratīya Jñānapīṭha, Varanasi, 1970/ **Mns.** Bhand. V. No. 1142; Uh. III. No. 154; CMB. 6; 44; CP. p. 67; JG. p.331; PAPs. 43 (5:24); Pet. III. Nos. 511; 512; (1) Comm. *Padmakaumudī* (Graṁthāgra 9000) composed by Nemicandra, pupil of Devanandin; Bhand. V. No. 1143; Buh. III. No. 154; PAPS 43(5); Pet. III. No. 511// (2) Tikā by Puṣpasenaśiṣya. SRA. 174// (3) Ṭikā by Kavi Devara, son of Rāmabhaṭṭa, composed for one Arlu Śreṣṭhin. The author pays homage to Amarakīrti. Siṁhanandin, Dharmabhūṣaṇa, Śridharadeva and Bhaṭṭārakamuni in the beginning. III. Vol. 15, pp. 153-154. AK. Nos. 652,653.

Ṛṣabha-Nemi- Kāvya also known as *Neminābheyadvisandhāna* (1023 AD) by Sūrācārya during the reign of Bhojarāja of Dhārā. This work, in Sanskrit, of double entendre relates the story of twoTirthaṅkaras, Ṛṣabha and Neminātha, simultaneously. Its author was the pupil of Droṇācārya, credited with the performing corrections of the canonical commentaries of Abhayadevasūri. His father's name was Saṅgramasiṁha. He learnt Śabdaśāstra (linguistics), epistemology and poetics. *Prabhāvakacarita* (14, 254), also mentions *Dvisandhānakāvya,* depicting the life of afore said two Tirthaṅkaras by Sūrācrya. **Unpub. Mns.** Bt. No. 510.

Nābheyanemikāvya (c 12th cent. AD) by Hemacandrasūri, pupil of Ajitadevasūri and grand pupil of Municandrasūri, is in Sanskrit and was corrected by Śripāla, a court poet of king Kumārapāla. It relates the story of both the Jinas, i.e. Ṛṣabha and Nemi. **Unpub. Mns.** B.K. Nos. 141; 18933; JG.P., 331; PAZB 18(23); SA No. 343. (1) *Svopajñaṭīkā,* Paṭan Catalogue Pt. I, Introduction, p. 50.

Rāghavanaiṣadhīyaṁ composed by Haradattasūri (first half of the 18th cent. AD) in two cantos, containing 148 verses in Sanskrit. Its first canto, containing 126 verses, depicts, in brief, the story of Rama and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Nala, resorting to punning expressions. In remaining 22 verses, the second canto describes 6 seasons. The work has also an auto-commentary. The author was the son of Jayaśaṅkara of Gārgyagotra. He refers to the grammarian Bhaṭṭojīdikṣita (1630 AD) and a host of other lexicographers such as Bhaṭṭamalla, Keśava, Rāmakṛṣṇa, Rabhasa and Yādava. The manuscript of this work dates back to 18th cent. AD, hence, this work, probably belonged to the period, before the first half of the 18th cent. AD.

Hariścandrodaya by Anantasūri (undated) is in 20 cantos on the story of Hariścandra, the famous mythological ruler. In this work of double entendre, the poet has woven the story of his patron king Hariścandra also.

Nalayādavarāghavapāṇḍaviya (12th cent. AD) is a *Catuḥsandhānakāvya* or work of quadruple entendre, mentioned by Ramacandrasūri in the introduction of his *Nalavilāsanāṭaka.* As the title suggests, its verses may be applied to Nala, Neminātha, Rāma and Pāṇḍava.

Pañcasandhānakāvya is a work by Śāntirājkavi, a Digambar Jaina. Its Kannada manuscript is available in Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah. Another manuscript is also kept at the Pannalal Jain Sarasvata Bhavana, Bhulesvara, Bombay, No. 1894.

Saptasandhānakāvya, according to Meghavijayagaṇi, Ācārya Hemacandra composed a *Saptasandhāna-kāvya.* It is not available today.

Saptasandhānakāvya composed in 1703AD by Meghavijayagaṇi, pupil of Kṛpavijaya and 5th in heirarchical descent from Haravijaya of Tapagaccha, containing 422 Grathagra's in 9 cantos in Sanskrit. The poet applies each verse to 5 Tirthaṅkaras Ṛṣabhadeva, Śāntinātha, Neminātha, Pārśvanātha and Mahāvīra, Kṛṣṇa and Rāma. Its theme is based on *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacaritra* of Hemacandra. It depicts the six cities Ayodhyā, Hastināpur, Śauryapuri, Varanasi, Mathura and Kuṇḍapuri. Ayodhyā, being the place of Ṛṣabhadeva and Rāma, Hastināpuri of Śāntinātha, Śauryapuri of Neminātha, Varanasi of Pārśvanātha, Vaishali of Mahāvīra and Mathura of Kṛṣṇa. After describing their ancestors, it depicts the dreams seen bytheir mothers as well as the auspicious fruits of these dreams. The second canto relates

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the birth of these seven greatmen and the birth ceremonies, performed by the gods.

The respective stories proceed simultaneously in remaining cantos. The greatness of Meghavijaya, as a poet, is sufficiently proved by this work. He has shown adeptness in using figures of speech, both Śabdālaṅkāra and Arthālaṅkāra. Some of the figures of speech used in this work are *Upamā, Rūpaka, Utprekṣā, Atiśayokti, Dipaka, Dṛṣṭānta, Nidarśana, Arthāntaranyāsa, Kāvyaliṅga, Pariṣaṅkhyā, Atadguṇa, Udātta etc, He has applied about 14 metres in this work viz. Upajāti, Indravajrā, Indravanśā, Vanśastha, Mālinī, Sragdharā, Śardūlavikrījita, Vasantatilakā, Hariṇī, Anuṣṭubh, Swāgatā, Śikhariṇi, Drutavilambita* etc. The *Śānta* (Tranquility) is the main sentiment of this *sandhāna-kāvya.* This work possesses the required salient features of an epic.

Meghavijaya was a versatile poet and a great number of works, ascribed to him, are testimony to his genius. He wrote masterpieces on grammar, astronomy, logic etc. branches of learing. Meghavijaya is supposed to he born approximately between 1628-1633 AD. and lived up to 1708 AD. His tenure of creativity in terms of composing works, corresponds to 1652 AD to 1708 AD. The list of his works include epics- *Digvijayamahākāvya* (1653 AD), *Laghutriṣaṣṭiśalākā-puruṣacarita, Saptasandhānamahākñya, Bhaviṣya-dattacarita, Pañcākhyāna, Pañca-mikathā, Samasyāpūrti, Kāvya-Meghadūtasamayālekhaḥ, Kirātasama-syālekh, Śāntināthacarita, Devānandamahākāvya,* Grammar- *Candra-prabhā* also known as *Haimakaumudi, Haimaśabdacandrikā, Haima-śabdaprakriyā* (commentaries on Siddhahaimabdānuśāsana of Hema-candra. Philosophical-- *Maṇiparīkṣā, Yuktiprabodhanāṭaka* and *Dharmamanjūṣā.* Astrological- *Varṣaprabodha, Praśnasuṇdarī, Janma-patrīya-paddhati. Ramala-śāstra, Hastasñjīvana, Viśāyantravidhi (Arjunapatākā),* Spiritual-- *Arhadgītā, Brahmabodha and Mātṛkā-praśāda* Historical-- *Śrirāvaṇa-pārśanāthastotra, Pañcatirtha-stuti* (saṭika), *Caturviṅśatijinastava, Ādijinastotra, Devaprabhostavanā-vacūri, Śabdacandrikā,* Works in Gujarati-- *Kumatirākaraṇana Huṇḍīstavana, Pārśva nāmamālāstavana, Vijayadevanirvāṇasvādh-ūāya, Vijayaratnasūrisvādhyāya, Kṛpāvijaya-nirvāṇarāsa, Maksīpār-śvastavana,* etc. **Pub.**

The text Abhaydevasūri Granthamālā, Bikaner,/ Jain Vividha

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sāhitya Śāstramāla No. 3, Benaras 1917,/ Text with comm. *Saraṇi* by Vijayāmrtasūri, Jain sāhityavardhakasabhā, Surat 1943 AD/ *Saptasandhāna : Eka Samikṣāmaka Adhyayana* (Ph.D. Thesis) by Dr. Śreyansa Kumara Jain, studies the text in 7 chapters. The first chapter surveys the texts of this particular genre in historical perspective. It provides the information about Jain as well as Non-Jain Sandhānakavyas and their authors. The second deals with life and works of Meghavijayagaṇit. The third presents the account of the subject-matter and source of the text in detail. The fourth chapter examines the literary estimate of this work: the figure of speech, sentiments and metres, employed in this work along with its merits and demerits. It also presents a comparative study of *Saptasandhānakāvya* with *Dvisandhānakāvya* and *Rāghavapāṇḍavīya. Pub.* Arihanta International, Delhi 1992, p. 238// Mns. Agra No. 2966.

Saptasandhāna (1612 AD) by Jagannāth, pupil of Narendrakirti is also referred to.

Caturvinśatisandhānakāvya by Pt. Jagannath, pupil of Digambara. Each of its verses may be expressed in 24 contexts. However, its authenticity is doubtful.

Pañcatirthīstuti (1671 AD) by Meghavijayagaṇi

Trisandhānastotra 1418 AD by Ratnaśekharasūri, pupil of Somasundarasūri in five verses, written on the tirthas of Ābū and Jīrāpallī, it applies simultaneously to Ṛṣabhadeva, Neminātha and Pārśvanātha. *Unpub.*

Navagrahagarbhita of Ratnaśekhara,
Pārśvastavana of Ratnaśekhara,
Vāmeyajinastavana of Ratnaśekhara,
Sādhāraṇajinastuti of Somatilakasūri,

Vividhārthamaya Sarvajñastotra by Somatilaka gives 4 meanings. **Mns.** JG, p. 294; Hamsa No. 27

Vīrajinastavana, a *Pañcaviṅśatisandhānakāvya* by Somatilakasūri in 12 verses. Barring the first and last verses each of the remaining ten verses may be applied in 25 senses. It contains the eulogy of Ṛṣabhadeva etc. 24 Tirthaṅkaras and Guru. **Pub.** Text with an Avacūri (comm). by anonymous In; *Jaina Stotrasamuccaya.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Pārśvastava by anonymous Agaracanda Nahta refers this hymn, containing two meanings.

Pārśvastavana of Jinaprabhasūri,

(2) Single verse compositions:

Aṣṭottaraśatārthīgāthā by Bappabhaṭṭisūri (9th cent. AD) composed a Prakrit gāthā and wrote its auto-commentary interpreting it in 108 different contexts. *(Tattīsīalīmenlāvā),*

Śatārthakāvya, composed in 1177 AD by Somaprabhācārya, a contemporary of Varddhamānasāgaragaṇi, in a single Sanskrit verse, it is interpreted in 100 ways. Because of this composition he was conferred the epithet *Śatārthika.* The poet himself commented on it. At the beginning of its commentary, in five verses, he presented an index to the hundred explanations intended by him. Then, he listed the meanings of the 24 Tirthaṅkaras of Jaina religion, the explanations of Vedic deities, like Brahma, Hara, etc. and brought references to his contemporaries like Vādidevasūri, Hemacandrasūri etc., the four successive Caulukya kings of Gujarat, viz. Jayasiṁhadeva, Kumārapāla, Ajayadeva and Mūlarāja, poet Siddhapāla, the best citizen of the time and Anitadeva and Vijayasiṁha his two preceptors. At the extreme end, he elucidated references to himself and in the conclusion he quoted a short *praśasti* in five verses written on himself by some disciple of his. **Pub.** text ed. Caturavijaya, with auto-comm. and Gujarati translation In; *Anekārtha Sāhitya Saṅgraha,* Jaina Śāhityoddhāragranthāvali No. 2, Ahmedabad 1935, p. 68-134/ **Mns.** Baroda No. 2942; B.K. No. 23; Ḥamsa. No. 1679; PRA. No. 1072.// Svopajñavṛtti. Baroda. No. 29423; B.K. No. 23.

Śatārthī a single verse, containing 100 meanings, was composed by Jinamṇikyasūri in 1482 AD.

Śatārthī a composition by an anonymous, containing 100 interpretations, is also referred to in *Jinaratnakoṣa.*

Śatārthī by Mānasāgarasūri, the pupil of Buddhisāgarasūri, the contemporary of Hiravijayasūri of Tapāgaccha, composed single verse, containing 100 contexts.

Pañcārthakaśloka by anonymous, composed in single verse, it is applicable to five different expressions: Brahmā, Viṣṇu, Hara, Caṇdra

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and Pārśvajina. **Pub.** In: Anekārthasāhityasaṁgraha, Ahmedabad, pp. 65-66.

Aṣṭalakṣī also called *Artharatnāvalī* in Sanskrit, composed in 1552AD by Samayasundara Upadhyaya, pupil of Sakalacandra Upadhyaya of Kharataragaccha. It is a comm. explaining *Rājāno Dadate Saukhyaṁ* in more than 8 lacs different expressions. This small pada was composed in the court of Akber to establish the trutha inherent in Jain aphorism *Egassa suttassa aṇantao attho,* to counter the attempt by some opponent to belittle this Jaina doctrine. Samayasundara, composed it and explained it in 10 lacs 22 thousand 407 meanings in the court of Akber. Later on, he retained only one lac meanings of this single line. In the process of explaining it, Samayasundaragaṇi showed that the term *Rājā* itself might be splited in a way to connote the sense of *Śrī Akber.* The term Rājā splits into *R + A + Aja + A + A.* In this break up *R* means Śri, *A* stands for *A, Aja* stands for *ka,* both being the synonyms of Brahmā, A is subsitituted by *Ba* both being the synonyms of Vāyu (wind), the last A is replaced by Ra (the two are the synonyms of *Agni* (fire). Ācārya Samayasundaragaṇi was very famous and wrote a large number of works. **Pub.** ed. Prof. Kapadia, H.R. In : *Anekārtharatnamañjūṣā.* Devacanda Lalbhai Jaina Pustakoddhāra Fund Series No. 81, Surat, 1933 AD. pp. 1-70/ **Mns.** Bhand. IV. No. 255; B.K. No. 1120; Pet. IV. No. 1174;

The poet Lābhavijaya explained the verse: *Tamo Durvārarāgādi vairivāra nivāraṇe. Arhat yogināthāya Mahāvīrāya tāyine.*

(3) Interpretation of single words,

Savvattha a *Śatārthaka Śabda,* Upadhyaya Guṇavijaya gave 117 meaings of the term *Savvattha.* **Pub.** In: *Anekārtha Ratnamañjūṣā,* pp. 96-98.

Harišabd occuring in *Vitarāgastavaḥ* is explained by Vivekasāgaragaṇi in the context of 30 Jaina deities, **Pub.** In: *Anekārtharatnarmañjūṣā,* p. 83.

The term *Hari* occurring in *Stambhapārśvastava* (1200 AD) by Nayacandrasūri in 14 contexts.

Gośabdakāvyaṁ, the term *Go* of the verse, commencing with Go

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

śrāvaḥ, is commented in 10 senses; **Pub.** In: *Anekārtharatnamañjūṣā*, p. 134.

Parāgaśabdagarbhajinastava by Lakṣmīkallolagaṇi eulogised the Jina in 28 hymns, *parāga* occurring there in 108 connotations. **Pub.** In: *Anekārtharatnamañjūṣā*,

The term *Sarasvatī* in *Yugādistava* by Jinamāṇikyagaṇi,

The term *Navakhaṇḍa* occurring in *Navakhaṇḍapārśvastava* of Jñānasāgara.

The term *Śarma* occurring in the *Pārśvastava* by anonymous,

The term *Mahāvīra* occurring in the 8th gāthā of *Vīrastotra*,

Paravāya Ṣaṣṭapañcāśatārthaka Śabda : Ratnaśekharasūri explained the term *Paravayā* in 56 meanings, **Pub.** In : *Anekārtharatnamañjūṣā*, pp. 99-102.

Ekatvacatvārinśatārthaka Śabda, Bhāvaprabhasūri explained the term Godhūlikā in 41 different meanings.

The term Sāraṅga in *Mahāvīrajinastavaḥ* containing 18 verses by Guṇavijayagaṇi, connotes various meanings. Pub. In : *Anekārtharatnamaṇjūṣā*, Surat 1933.

(4) Interpretation of well known Jaina and Non-Jaina Mantras:

Namakāramantra or *Daśottaraśatārthī*, Vijayavimala, in his *Hetūdaya Vibaṅgī ṭīkā*, mentions that Pt. Harṣakula of Tapāgaccha composed a *śatārthī*, containing the 100 meanings of the first pada of *Namaskāramantra*.

Namaskāra- Prathamapadārthāḥ, the first line *Namo Arhantāṇaṁ* of Pañcaparameṣṭhi mantra is explained by Pt. Guṇaratnamuni in 110 different meanings, resorting to śleṣa. Pub. In : *Anekārtharatnamañjūṣā*, pp. 103-118.

Gāyatrīmantravivaraṇa is an explanation of Gāyatrī Mantra by Śubhatilaka, applying this mantra in the sense of Arihanta, Śaṅkara, Viṣṇu, Pārvatī and Radha. **Pub.** ed. Kapadia, In: *Anekārtharatna Maṅjūṣā*, D L P Series No. 81, Surat, 1933, pp. 71-82.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) Interpretation of Extracted verse or verses

Yograśastra Śatarthavivaraṇa by Mānaśāgaragaṇi, pupil of Buddhisāgarasūri, pupil of Hiravijayasūri, on the verse occurring in *Yogaśāstra* (2/12) of Hemacandra. The verse was explained in 106 different expressions by Mānasāgara, on the instruction of his grand teacher Hiravijayasūri. The Ācārya applied it to the description of 24 Tirthaṅkaras, Jinavāṇi, Śāsanadevī, Pañcaparameṣṭhi, Brahmā, Viṣṇu, Maheśvara, Pārvatī, Lakṣmī, Sarasvatī, Jñāna, Kāma, Hīravijayasūri, Vijayasenasūri, Akber, Navagraha, Sura Aṣṭadikapāla, Rāma, 14 dreams and Buddhisāgara. The manuscripts of this comm. are available in the collections of Manuscripts at Baroda and Lymbdi.

Yogaśāstra (2/85) of Ācārya Hemacandra has found favour with, as the interpretations of its three verses are found. According to Jayadevasūri its verse 2/85 contained 100 meanings.

Yogaśāstra (1/1) was interpreted in 500 contexts by *Lābhavijayagaṇi* in 700 contexts by Meghavijayagaṇi (1615 AD).

Kumāravihārapraśastikāvya, its 87th verse, was so composed by Varddhamānagaṇi, pupil of Hemacandra, as to connote 6 contexts. It is remarkable that Varddhamānagani's pupil explained it in 116 contexts.

Ṣaḍaśottaraśatārthī-padya by Varddhamānasāgaragaṇi, pupil of Hemacandrasūri. The 87th verse of the *Kumāravihāraśataka* gives 106 meanings. Significantly, the poet has explained it only in six contexts but his pupil, in his commentary, explained it in more than hundred meanings. Some of the contexts in which it has been explained is; Brahmā, Maheśvara, Surapati, Vaiśvānara, Varuṇa, Vāyu, Kṛtānta, Nāgaraja, Lakṣmī, Rājahaṅsa, Candra, Sūrya, Heṃacandra, Dharma, Artha, Mokṣa etc. **Pub.** ed. Caturavijayamuni In: *Anekārthasāhitya-saṅgrahaḥ,* Jainsāhityoddhāra Grandhāvali No.2, Ahmedabad 1935, pp. 43-45.

Avidayada Śatārthī by Vinayasagara Upadhyaya (17th cent. AD), pupil of Sumatikalaśagaṇi of Pippalaka branch of Kharataragccha. Its single manuscript is available at Branch Office, Kota of Rajasthan Prācya Vidyā Pratiṣṭhāna.

Dosasaya, according to *Upadeśaratnākara,* Udyadharmagaṇi,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

pupil of Lāvaṇyadharma of Tapāgaccha, has extracted in 1605 AD, the 51th gāthā of *Upadeśamālā* of Dharmadāsagaṇi and interpreted it in 100 contexts. **Unpub. mns.** Kantivijaya Bhaṇḍara, Baroda.

Ṣaḍdarśanasamuccaya, likewise Guṇaratnasūri explained the first verse of *Ṣaḍdarśanasamuccaya* of Ācārya Haribhadra (7th-8th cent. AD) in five different contexts.

Kāvyadvayārthakaraṇapārśvastava, the seven verses collected by Samayasundaragaṇi (1592 AD) from the benedict are portions of *Kumārasambhava* and *Meghadūta* of Kālidāsa, *Śiśupālavadha* of Māgha, *Tarkaśastra, Saptapadārthi* and *Vṛttaratnākara,* were explained as eulogies of Tirthaṅkara Pārśvanātha.

Catuḥṣaṣṭyarthakavākya, Māṇikyasundarasūri further explains the single line *Rājāno dadate* Saukhyaṃ, explained by Samayasundaragaṇi in eight lac meanings, in 64 meanings. Its manuscript is available in the collection of Agaracanda Nathta, Bikaner.

Meghadūta-Prathama-Padya (1/1), Samayasundaragaṇi has explained the first verse of *Meghadūta* in three different meanings applicable to Ṛṣabhadeva, Sūrya (sun) and Jinacandrasūri. Its manuscript also is available in Agaracanda Nahta collection, Bikaner.

Vimalayamalastuti, Samayasundaragaṇi explained the second verse of Vimalayamalastuti of Jayasāgara. **Unpub.** Its manuscript is available in the Nahta collection, Bikaner.

The first verse, beginning with *sāraṅga sāre,* composed by Haṁsa Pramodagaṇi of Kharataragaccha, is explained in 100 different meanings. Its only manuscript is available in the Jaisalmer collection. Some of its explanations are of historical importance. Bijaraja Hukumacandra Vaidya library, Ratanagarha contains a manuscript of 40 folios, explaining a single verse by anonymous in 100 various contexts.

Bibliography- Chaudhary, Gulabcandra, Jain Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Pt. VI, (Kāvya- Sāhitya) Pārśvanātha Vidyāśrama Śodha Saṅsthāna, S.No. 20 Rep. IInd ed. 1998// Kṛṣṇamachariar, M. History of Classical Sanskrit Literature, Tirumalai- Tirupati Devastanath, Press Madras, 1937. // Prof. Kapadia, H.R., Jain Sanskrit Sāhityano Itihāsa Pt. 2, Mukti Kamalas Jain Mohanamālā, S.No. 64.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jaina Version of Mahābhārata

*Prof. Bhagchandra Jain "Bhaskar"**

The *Mahābhārata* legend like the *Rāmāyaṇa* has been constantly an inspiring instinct for Indian writers since a long. Its main characters are said to be celestial beings. Lord Kṛṣṇa, probably non-vedic deity, is the prominent character around which all the characters are roaming. The whole folklore then becomes very impressive, supernatural and divine. Jainācāryas used it in their own ways with somewhat progressive attitude for spreading the Jaina principles. They adopted the Vedic version of the *Mahābhārata* in their literature with some changes according to their needs. They made the whole story rather more logical and practical.

The present paper is confined to Jaina literature written in Sanskrit, Prakrit and Hindi languages. It will throw a light on certain points which differ Jaina version with that of Vedic version of *Mahābhārat.*

Jain Literatue on Mahābhārata

The earliest reference to the *Mahābhārata* story is found in the *Sthāṇāṅga, Nāyādhammakahāṅga, Antakṛddaśāṅga, Praśnavyākaraṇa, Uttarādhyayana,* and *Niryāvalikā.* Amongst non-Āgamic Prakrit Texts, the following may be mentioned: *Vasudevahiṇḍī* of Saṅghadāsagaṇi, *Cauppannamahā-purisacariya* of Śīlāṅka and Amarakavi, *Bhvabhāvanā* of Hemacandrasūri, *Upadesamālā* of Hemacandrasūri, *Kumārapāla-paḍiboha* of Sūraprabhasūri, *Kaṇhacariya* of Devendrasūri, and some *Kathākośas* like *Kathakośaprakaraṇa, Kathāratnakośa* and *Ākhyāna-kamaṇikośa.*

The works in Sanskrit on the story are found as *Pradyumnacarita* of Mahāsenasūri, Neminirmāṇa Kāvya of Vāgbhaṭ 1, Naranārāyaṇā-

*. Director, Parshwanath Vidyapeeth, Karaundi, Varanasi-5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

nanda Mahākāvya of Vastupāla, *Neminātha Mahākāvya* of Kīrtiratnasūri, *Saptasandhāna Kāvya* of Meghavijaya Upādhyāya, *Dvisandhāna Mahākāvya* of Dhanañjaya, *Harivaṁśa Purāṇa* of Jinasena, *Uttarapurāṇa* of Guṇasena, *Nemidūta* of Vikrama Kavi, *Triṣaṣṭiśalākā Puruṣacarita* of Hemacandra, *Pāṇḍavapurāṇa* of Vādicandra, *Mahāpurāṇa* of Mallisūri, *Pāṇḍavacarita* of Devaprabhasūri, *Harivaṁsapurāṇa* of Sakalakīrti, *Pāṇḍavapurāṇa* of Śubhacandra and so on.

In Apabhraṁsa literature, some Kāvyas may be mentioned as follows :--

Rathaṇemicariu of Svayambhū, *Mahāpurāṇa* of Puṣpadanta, *Ṇemināhacariu* of Haribhadra, *Harivaṁsapurāṇa* of Dhaval, *Pajjummacariu* of Sinha, *Ṇemināhacariu* of Lakṣamaṇadeva, *Ṇemināhacariu* of Raidhu, *Pāṇḍavapurāṇa* and *Harivaṁsapurāṇa* of Yaśaḥkīriti, and so on.

Likewise, so many other Jaina Kāvyas are also found in Hindī, Gujarātī, Marāthī, Kannaḍa, and other Jaina literature.

The prominent Hindī Jaina literature on *Mahābhārata* may be mentioned as follows : *Nemināthārāsa* of Sumatigaṇi (1238 A.D.), Gajasukumalarāsa of Delhaṇa (13th c. A.D.), *Pradyumnacarita* of Sandhāru (1354 A.D.), *Nemiphāgu* of Dhanadevagani, Jayaśekharasūri etc. *Nemināthārāsa* of Puṇyaratana, Brahmarāyamalla, Kanakakīrti, Keśarasāgara, Nemicandra, Ratanamuni, Vijayadevasūri etc., *Harivaṁśapurāṇa* of Brahmajinadāsa, Śālivāhana, Khuśālacanda Kālā, *Nemīśvara Kī Veli* of Thākura, Sāliga etc. *Pāṇḍava Purāṇa* of Bulākīdasa, *Nemināthacaritra* of Jayamala (1757 A.D.). *Pradyumnacarita* of Munnalala (1844 A.D.) and so on. It may be mentioned here that Hindi Jaina Mahābhārata literature is mostly Prabandhātmaka Kāvya while non-Jaina literature is mostly Muktaka Kāvya.

Some Differences in Jaina Version

We shall point out here only a few main differences which are found in Jaina version of *Mahābhārata*. They may be enumerated as follows : --

1. According to Jaina tradition, Lord Kṛṣṇa was the ninth Nārāyaṇa Vāsudeva, a brave and valiant king of Dvārikā and Southern

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

region (Ardhacakravartī) and not the divine personality as found in Vedic tradition. He was, of course, an adherent of seven Ratnas and a remover of clashes and unrest. He was also a supernatural personality but could not be detached completely with the worldly affairs. Lord Kṛṣṇa is considered to be a prominent character in Jaina literature. The Vāsudeva may be an epithet or an ancient title of an honour which was used by Vāsudeva Kṛṣṇa also like Kāśīrāja Poṇḍrika. In later period, some sorts of amusements (Līlās) etc. were added to the character of Kṛṣṇa, which are also described by the Hindi Jaina writers. Jaina traditions, in fact, worshipped him as a warrior.

2. Draupadī is an other important character of the *Mahābhārata* who created more and more problems to both, Kauravas and Pāṇḍavas. Differences in versions are more found in this character. According to *Mahābhārata,* Draupadī was Ayonijā who was blessed by Lord Śiva for having five husbands as she uttered the sentence "I intend to have a wise husband" for five times. As a result, she got the five husbands in her next birth as Draupadī.[1] Draupadī is also said to be a daughter of Ṛṣi in her previous birth. The Jaina version of *Mahābhārata* mentions so many other stories of previous births like Sukumālikā and Nāgaśrī who had five husbands in next birth due to Nidāna Karma and not the blessing of Śiva.

3. Draupadī was born at Pāñcāla,[2] while the Jaina sources name it as Kāmpilyapur,[3] Mākaṇḍa Nagarī[4] and Kākandi Nagarī[5] which can be identified with the present district of Devaria.

4. Drupada was the father in both the traditions. But the *Mahābhārat* keeps her birth from the Yajñakuṇḍa and says her as Ayonijā while the Jaina tradition names her mother as Bhogawatī[6] and father as Draḍharatha.[7]

5. Both the versions agree on the Rādhāvedha or Candrakavedha as the condition of Svayamvara but its way of implementation appears to be rather more difficult. It mentions twenty-two Cakras in place of one Cakra. Pāṇḍavas in Jaina version enter into Svayamvara along with Pāṇḍu or Kuntī while it is not so

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mentioned in the *Mahābhārata*. Jain version does not mention that Dhṛṣṭadyumna introduced the kings to Draupadī. The introduction work was accordingly done by priest,[8] maid servant[9] or door-keeper.[10] After fulfilling the condition, Draupadī garlanded Arjuna and the garlanding was divinely made to all the Pāṇḍavas.[11] According to the *Nāyādhammakahāo*[12] and Amama Svāmicaritam of Muniratnasūri,[13] garlanding was made separately to all five brothers. The *Uttarapurāṇa* mentions that the garlanding was made to only Arjuna and not others.[14] On the other hand, the *Jñātādharmakathāṅga* follows the *Mahābhārata* version.[15]

6. The *Uttarapurāṇa* and the *Pāṇḍavacarita*[17] refer to five sons of Draupadī called as Pāñcāla while the *Jñātādharmakathā*[18] and *Kalpasūtra Kalpalatā*[19] mention Pāṇḍusena as the only son.

7. The temptation for kingdom and jealousy were the main causes behind the Dyūtakrīḍā (gambling). But the *Bṛhatkathākośa*[20] and *Bālabhārata*[21] mention an insult done to Duryodhana in the assembly of Yudhiṣṭhira as the main cause. To avenge the insult, Duryodhana made the conspiracy of gambling and did the Cīraharaṇa and Keśākarṣaṇa of Draupadī.

8. Jaina tradition mentions mainly the Rāmagiri, Daṇḍakavana, Kāliñjaravana as the Vanavāsa area[22] while the *Mahābhārata* refers to Kāmyakavana, Dvaitavana, Gandhamādana Parvata etc. where Kiramīra Rākṣasabadha, Bakāsurabadha, Hiḍimbā-badha, Draupadī- haraṇa, Kṛtyā Rākṣasī-preṣaṇa, Durvāsa Āgamana etc. took place.

9. Jaina version indicates one hundred and not one hundred five brothers of Kīcaka who were burnt in funeral pile by Bhīma.[23] The war was held between Lord Kṛṣṇa and Jarāsandha and not between Kauravas and Pāṇḍavas. Kauravas and Pāṇḍavas were in fact associated with Śrīkṛṣṇa and Jarāsandha respectively. Kṛṣṇa and his associates defeted Jarāsandha and Kauravas and then Kṛṣṇa presented the Hastināpur kingdom to Pāṇḍavas.[24] Afterwards, Duśśāsana, Duryodhana and Kṛṣṇa initiated into Jinadīkṣā and attained Nirvāṇa according to Harivaṁsa Purāṇa.[25]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. Draupadī ignored the arrival of Nārada as he is said to be Asaṁyamī, Avirata and Mithyādṛṣṭi according to the *Jnātādharmakathā.*[26] But the *Harivaṁsapurāṇa*[27] and *Pāṅḍava* Purāṇa[28] are of opinion that as Draupadī was engaged in her own decoration, she could not attend properly the Narada Ṛṣi. As a result, Nārada became furious and reached King Padmanābha, the King of Amarkaṅkā who kidnapped Draupadī by the assistance of his friend Sāṅgatikadeva.[29] The war was then held betwee 'āṅḍavas and Padmanābha, and Pāṅḍavas were defeated. Then Kṛṣṇa caught him by the help of Susthitadeva and brought him before Draupadī, who forgave him.[30]

11. One day Pāṅḍavas tried to taste the power of Kṛṣṇa by leaving him alone at the Bank of Gaṅgās. Kṛṣṇa then crossed it and reached to Pāṅḍavas safely. Knowing that Pāṅḍavas tested him, he began angry with and expelled Pāṅḍavas from his Dvāraikā Nagarī. The Pāṅḍavas went to ultimately south India and established the city Pāṇḍu- Mathurā, where Draupadī gave a birth to Pāṅḍusena. Afterwards Pāṅḍavas handed over the kingdom to Pāṅḍusena and initiated into Jinadīkṣā along with Draupadī. Pāṇḍavas attained salvation and Draupadī took birth in the Brahmaloka as Deva who will attain Mokṣa in next birth.[31]

12. Kaṁsa was named as he was found in Kānsya box. While he was in womb, his mother Dhāriṇī, the wife of Mathurā expressed her desire (Dohada) before king Ugrasena to eat the flush of her husband. This was treated as the indication of forth coming difficulties and hence he was kept in Kānsya box and thrown away in the see.[32] Kaṁsa was then brought up by Vāsudeva who got married him with Jīvayasā, the daughter of Jarāsandha. This was later on disclosed to Kaṁsa who kept his father Ugrasen in jail and became a king of Mathurā.[33] Kaṁsa arranged the marriage of his sister Devakī with Vāsudeva. At the time of marriage celebration, Muni Atimuktaka, younger brother of Kaṁsa predicted that the seventh son of Jīvayaśā, Kansa's wife, will kill her husband. Then Kansa requested Vāsudeva to handover all the seven sons of Devakī to him.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vāsudeva and Devakī were then kept in vigilence. In Vedic tradition, this differs to certain extent.[34]

13. Due to mercey of Hariṇagavasi, all the six sons (Anikayaśa, Anantasena, Ajitasena, Nihatāri, Devayaśa and Śatrusena) of Devaki were brought up by Sulasā and the seventh son was kept with Nanda, the servant of Devakī and Nanda's daughter was handed over to Devakī. Kaṁsa released the daughter with understanding that Devakī delivered a female child. He cut her nose and returned him to Devakī.[35] According to *Uttarapurāṇa* (pp. 407-11), this daughter named Alakā becomes Jain nun who penanced at Vindhyācala where she was killed by a lion. Then it is said that she was worshipped as Vindhyavāsini Devī.

Vedic tradition is somewhat different. Accordingly Devakī used to visit Nanda's house for having a look on his son under the pretext of cow-worship.[36] Since then cow worshipped is started.[37]

14. With the view to take a reveange with Vāsudeva, Vidyādhara Śūrpaka sent his two daughters Śakunī and Pūtā for killing Śrikṛṣṇa. But Śrikṛṣṇa himself killed both these vidyādharīs.[38] According to the *Uttarapurāṇa,* these two were Devīs who came down to rescue Kaṁsa at his instance. In Vedic tradition, Pūta was a Rākṣasī deputed by Kaṁsa for killing Kṛṣṇa.[39]

15. The son of Śūrpaka vidyādhara made efforts to kill Śrikṛṣṇa by pressing him between two Yamal trees, but Śrikṛṣṇa himself destroyed them, and killed the son. Śrikṛṣṇa was then called 'Dāmodara.'[40] Jinasena refers to two Devīs - Yamaka and Arjuna in this connection.[41]

Vedic tradition refers to Nalakubera and Maṇigrīvā Yakṣa who took up the form of trees due to Abhiśāpa of Nārada. They were supposed to have the bless of Śrikṛṣṇa.[42]

16. Kaṁsa as soon as looked at the noseless girl, he remembered the prophecy of Atimuktaka Muni and Enquired about his enemy. The Nimittajña described the enemy and advised that whosoever kills the Bull, Horse, Khara, and Meṣa, he may be

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

understood as an enemy and the enemy is the seventh son of Devakī, who is called Vāśudeva, the greatest powerful man in the world. Śrikṛṣṇa killed all the four ones.[43] The *Uttarapurāṇa* (pp. 427-28) mentions here the name of Ariṣṭadeva who apeared as a Bull. Śrimad-Bhagawat does not refer to khara but Dhenukāsura occurs his place.[44]

17. Śrīkṛṣṇa got the impression from Baladeva that he was a son of Vāsudeva-Devakī. He then decided to kill Kaṁsa. In the mean time, Kṛṣṇa killed Kāliyanāga in the Yamunā river, according to the *Triṣaṣṭi* (8.5.262-65). The *Harivaṁśapurāṇa* and *Uttarapurāṇa* nerrate an other story in this regard. Accordingly, Kṛṣṇa got the Kamal after killing Kālīyanāga, the protector of the Kamal.[45]

According to *Śrimad Bhagawat,* Śrīkṛṣṇa mad the Yamunā-water purified and saved it from the clutches of Kālīyanāga.[46]

Kaṁsa then arranged the wrestling with Cāṇūra and Muṣṭika. At the outset, Kṛṣṇa and Balarāma killed first the Padmottara and campaka eliphants and then these wrestlers. *Śrimad Bhāgawat* refers to only one eliphant named Kuvalayāpīḍha. The *Triṣaṣṭi* mentions that Śrikṛṣṇa becomes unconscious during the fighting with cāṇura (8.5.284-95) but *Harivaṁśapurāṇa* does not mention so. Śrīkṛṣṇa then killed Kaṁsa by keeping a leg on his head.[47] *Harivaṁśapurāṇa* and uttarapurāṇa differ slightly here. Accordingly Kaṁsa attacked Kṛṣṇa but failed. Samudra-vijaya and others overjoyed and freed ugrasena from Jail.

18. Jarāsandha became enemy of Śrikṛṣṇa and Balarāma. He ordered Samudra-vijaya to handover Śrikṛṣṇa and Balarama to him. Samudra-vijaya discussed the matter with Nimittajña (Crauṣṭukī) and went on towards west core along with Yadavas. Kālakumāra, the son of Jarāsandha attacked on Yādavas who were protected by Devas of Śrikṛṣṇa. Kālakumāra died in the fort. Then Śrikṛṣṇa became a king of New Dwārikā near Revataka Giri in Saurāṣṭra.[48]

19. Śrikṛṣṇa married with Rukmaṇi and killed Śiśupāla. There were eight Paṭṭamahiṣīs of Śrikṛṣṇa (Satyabhāmā, Rukmaṇi,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jāmbawatī, Lakṣmaṇā, Suśimā, Gaurī, Padmāvatī and Gāndhārī) out of sixteen thousand queens.[49] Atimukataka Muni made a prophacy that Rukmaṇī will deliver a child like Śrīkṛṣṇa by name of Pradyumna who will be kidnapped by Kālasaṁvara Vidyādhara. Kañcanamālā will present two vidyās Prajñapti and Gaurī to Pradyumna by which he will never be defeated. Pradyumna had a war with Śrikṛṣṇa and proved himself to be a worthy son.[50] Both, the father and son got acquintence here for the first time. The Vedic tradition refers to the number of queens of Śrīkṛṣṇa 16001, out of them nine were Pattamahiṣīs.

20. Satyabhāmā wanted to have a son like Pradumna. Harinaigameṣī gifted a neckless to Śrīkṛṣṇa saying that whosoever it bears, she will get a son like you. Pradyumna got the information through Prajñapti Vidyā and played a mischivious role. He sent Jāmbavatī to Śrīkṛṣṇa for sexual intercourse in the form of Satyabhāmā. Finally Jāmbawatī delivered the son Śāmba like Kṛṣṇa while Satyabhāmā got the son named Bhīru Kumāra, who appeared fearsome by nature. The *Uttarapurāṇa* names Sambhava Kumāra in place of Śāmba.

21. Pradumna had a good relation with Śāmba. He got married with Vaidarbhī, the daughter of Rukmi as he overpowered an eliphant.

22. On the inspiration of Jīvayaśā, her father Jarāsandha, the king of Rajagṛha started to war with Kṛṣṇa. Kṛṣṇa also arrived at Mathurā along with Ariṣṭanemi. Jarāsandha constructed a Cakravyūha of having thousand Ārās or spokes. On the otherhand, Yādavas prepared Garudavyūha. Finally Śrikṛṣṇa killed Jarāsandha and returned to Dwārīkā.[51] According to Vedic tradition, Jarāsandha was killed by Bhīmasena.[52]

23. Vāṇāsura, the Khecarapati of Śrinivāspur had a daughter named Uṣā who had a love with Aniruddha, the son of Pradyumna. Aniruddha married ultimately with Uṣā and Kṛṣṇa killed Vāṇāsura. Kṛṣṇa then became Trīkhaṇḍeśwara.

24. Ariṣtanemi, the 22nd Tīrthaṅkara was the son of Samudra-vijaya, the cousin of Śrīkṛṣṇa. At the time of Kaṁsabadha, he

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

was of hardly eight years. He was brought up at Dwārikā. Śrīkṛṣṇa acknowledged his power and borried over his kingdom. But Ariṣṭanemi declared that he will accept the Jinadīkṣā without getting married. Rājimatī, the proposed wife of Ariṣṭanemi followed the foot step of Ariṣṭanemi.[53] The Vedic tradition has no such reference.

25. Draupadī is said to be a Śati-Śiromaṇī in Jaina tradition due to her penance, though she had a Nidāna-karma in the previous birth of Sādhvī Gopālikā for having five husbands while she looked at Veśyā Devadattā who was busied with her five lovers.[54]

26. Draupadī was kidnapped by Padmanābha, the king of Dhātakīkhaṇḍa who carried her at his capital Amarakaṇkā. Kapila Vāsudeva and Tīrthaṅkara Munisuvrata were there in Dhatakīkhaṇḍa. Two Vāsudevas cannot meet each other according to Jaina tradition. Then Kapila Vāsudeva gave a lession to Padmanābha and saved Draupadī from his clautches.[55] Paṇḍavas could not stand before Padmanābha.

27. Gajasukumāla was the eighth son of Devakī. Her first six sons were identical ones who became Jaina monks. Gajasukumala also renounced the world leaving his wife Somā, the daughter of Somaśarmā who kept the fire pot on his head and as a result Gajasukumala died on the spot.[56]

28. According to *Mahābhāratā,* Kuntī did not join the Pāṇḍavas' Vanavāsa while Jaina tradition says that Kunti went with them.

29. *Mahābhārata* mentions that king Drupada sent his Purohita to Duryodhana at the direction of Śrīkṛṣṇa while the Jaina tradition mentions that Śrikṛṣṇa sent the message to Duryodhana with Drupada's purohita.[57]

30. According to *Mahābhārat,* Sañjaya becomes messenger of Dhṛtarāṣṭra and goes to Paṇḍavas. The message carried the affection towards Pāṇḍavas, whereas the Jaina tradition says that Dhrtarāṣtra sends the message to Pāṇḍavas for renouncing the idea of a war with Kauravas. Yudhiṣṭhira replies that to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

remove the injustice is a justice itself. *Mahābhārata* mentions that Śrīkṛṣṇa went to Dhṛtarāṣṭra after having a detailed discussion with Pāṇḍavas, while the Jaina tradition remarks that Śrīkṛṣṇa went directly to Dhṛtaraṣṭra for creating peace between two parties. He insisted for giving even five villages to Pāṇḍavas which Duryodhana totally refuses.[58]

31. Bhīṣmapitāmaha advised Śrīkṛṣṇa not to be indulged with the war. Śrīkṛṣṇa honoured the view with saying that he will not use the Śastras at all. The *Mahābhārata* on the otherhand, says that at the request of Arjuna, Śrīkṛṣṇa renounced the idea for using the Śastras in the war.[59]

32. Kuntī went herself to Karṇa in Vedic tradition for giving understanding that he is her own son while Jaina tradition says that this mystery was unearthed by Śrīkṛṣṇa.

33. Jaina tradition says that Pāṇḍu was alive during the *Mahābhārata* war while the Vedic tradition does not accept it.

34. Jain texts do not usually mention the *Mahābhārata* war. However,[60] Jinasena is of the view that war was held between Śrīkṛṣṇa and Jarāsandha. Devasūri mentions that Kaurava-Pāṇḍava war was held prior to Jarāsandha war, as *Mahābhārata* indicates.

35. In the absence of *Mahābhārata* war, the Jaina texts do not mention any surmon as Gītā does. However, the preachings are insearted here and there.

36. Śiśupālabadha was held during Jarāsandha war according to Jaina Texts, while the *Mahābhārata* does not create any connection with it.

37. Madirā, Dvaipāyana and Agni are proved to be the main reasons behind Dwārikādahana. Except Śrīkṛṣṇa and Balarāma, entire Dwārikā was destroyed in fire and submerged into the sea. Śrīkṛṣṇa and Balarāma went to Jīrṇodyāna. Then Śrīkṛṣṇa was killed by Jarākumāra, his own brother by mistake in the Kauśāmbi forest. It is said in the jaina Texts that Śrīkṛṣṇa will be 12th Tīrthaṅkara by the name Amama in future. Balarāma

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

will also achieve salvation during the same time.

38. Jaina Texts mention that Śrīkṛṣṇa remained in the world for one thousand years while Vedic Texts are of view that he was alive for 120 years.

39. Jaina Texts say that Balarāma had been roaming with holding the corps of Śrīkṛṣṇa for six months. Siddhārtha Deva tried to pacify his attachment and finally Balarāma kept him into fire. Then he kept himself busied in performing the Jaina penance and took the birth in Brahmaloka.

40. According to Jaina tradition Śrīkṛṣṇa is not an incorn ation of Lord Viṣṇu. He was a human being like us except that he had some peculiar qualities which are not found in general.

41. As regards the Hindi Jaina literature, that too follows the earlier Jaina tradition. In Vedic tradition, Lord Kriṣṇa is described as Gopijana-- Vallabha, Rasika and an incornated personality while Jaina tradition is of view that he was of course, a Great man but not an incornation of God. We do not fine any description of sperts (Līlās) in Jaina tradition.

42. Vyāsa is the legitimate son of King Parāśara and Guṇavatī, unlike *Mahābhārata,* who had three sons, Dhṛtarāṣṭra, Pāṇḍu, and Vidura. Pāṇḍu, penitent over his killing of a deer, renounces the world and became a Jaina monk. Dhṛtarāṣṭra too after hearing a prophecy about the destruction of his entire family, renounces the world and becomes a Jaina monk.[62]

43. Unlike Mahābhārata, Jaina writers reduce Kṛṣṇa to human stature by showing his nature to be scheming and selfish. It is said that at the time of Nemi's marriage, Kṛṣṇa had gathered animals to be slaughtered for the marriage feast in order to eliminate Nemi as a rival to the kingdom by provoking him to renunciation.[63]

44. Unlike *Mahābhārata,* Sāntanu himself is said to have fathered Matsyagandhā.[64]

45. Bhīṣma not only took a vow to renounce all rights to his kingdom, but also cut of his own genitals and thus earned his

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

name, Bhīṣma, the terrible.[65]

46. Citrāṅgada and Vicitravīrya, the sons of Sāntanu, defamed Bhīṣma, their step brother, by linking him in a scandalous relationship with their mother Satyavatī.[66]

47. With a desire to get sons, Gāndharī copulated with a hundred goats and begat hundred sons, the eldest of whom was Duryodhana.[67]

48. Jainas did not accept the concept of Niyoga at all as found in the vedic tradition.

49. The story of Ekanāsā, the sister of Kṛṣṇa is totally changed in Jaina Version. Accordingly, she was killed by a lion during her penance in the forests of Vindhya and the people started wrongly her horrible worshipping as Durgā Vindhyavāsinī.

50. The life story of Kṛṣṇa is also totally changed in the perspective of Jaina principles.

51. Dvaipāyana was not a heretical ascetic but a Jain monk who had great yogic powers. If misused, they were capable of burning anything at will. The sons of Bālarāma and Kṛṣṇa insulted the yogī and as a result yogī destructed Dvārikā by fire.

52. The Jaina account of the deaths of Balarāma and Kṛṣṇa and their passing into heaven and hell respectively are also quite diferent with that of vedic version.

Thus the Jain version of *Mahābhārata* is somewhat different with that of *Mahābhārata* of the Vedic tradition. It is, in fact, prone to the principles of Jainism and the story is turned accordingly whereever found the falsified points. Kṛṣṇa was originally figured as human hero who followed the rightous path in ruiling over their people. But as soon as the vedic tradition accepted him as Avatāra of Viṣṇu due to growing devotional movements, the Jainas considered him as Śalākāpuruṣa, left out the believe in a creator God, questioned the power of the Deity to grant salvation and prevent their followers from convertion.

Secondly, the concept of Tīrthaṅkara and Cakravartin would

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

have grown gradually to illustrate the Jaina doctrine of Karma and the path of salvation.

References

1. *Mahābhārata,* Ādiparva, 6-14; 41-45; 1123-1143.
2. *Bharatamañjarī,* Ādiparva, 876.
3. *Nāyādhammakahāo,* 16.81; *Uttarapurāṇa,* 72.198.
4. *Ākhyāṇakamaṇikośa,* 2.12.89; *Pāṇḍavapurāṇa,* 15.41; *Harivaṁsa-purāṇa,* 45.120.
5. *Bṛhatkathākośa,* Kathānaka 43; *Ārādhanā-prabandha-kośa,* 90.21.7.
6. *Harivaṁsapurāṇa,* 45.121; *Pāṇḍavapurāṇa,* 15.42.302.
7. *Uttarapurāṇa,* 72.198.
8. Ibid, 72,210.
9. *Nāyādhammakahāo,* 16.122.
10. *Pāṇḍavacarita,* 4.56.
11. *Pāṇḍavacarita,* 4, p. 57; Pradyumna-kalikā, Dvitiya vācanā, p. 64.
12. *Jñātādharmakathā,* 10.124.434
13. *Amamasvāmi-carita,* 9,301,365.
14. *Uttarapurāṇa,* 72.211-421; *Harivaṁsapurāṇa,* 45.150-51; *Pāṇḍavapurāṇa,* 15.223-326.
15. *Jñātādharmakathā,* 16.137.437.
16. *Uttarapurāṇa,* 72.224-421.
17. *Pāṇḍavacarita,* Sarga 17, p. 279.
18. *Jñātādharmakathā,* 16.216.465.
19. *Kalpasūtra-kalpalatā,* p. 40.
20. *Bṛhatkathākośa,* 83.54-69.204.
21. *Bālabhārata,* 2.4.84.166.
22. *Harivaṁsapurāṇa,* 47.714; 17.22.551-52; *Bṛhatkathākośa,* 83.88-207; *Bālabhārata,* 3.1-4; *Pāṇḍavapurāṇa,* 17.145.340.
23. *Bālabhārata,* 2.61; *Pāṇḍavapurāṇa,* 17.315-369.
24. *Uttarapurāṇa,* 72.224-422.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

25. *Harivaṁsapurāṇa,* 52.88-89.
26. *Jñātādharmakathā,* 16.138.142.
27. *Harivaṁsapurāṇa,* 54.8-609.
28. *Pāṇḍavapurāṇa,* 21.6-8.447.
29. *Jñātādharmakathā,* 16.149.152.
30. Ibid, 16.190.193.
31. Ibid, 16.230. See in detail for these references *Draupadī kathānaka kā Jaina Śroton ke Ādhāra para Tulanātmaka Adhyayan* by Dr. Sheela Singh, Varanasi.
32. *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita,* 8.2.62.
33. Ibid, 8.2.95-96.
34. *Śrīmad Bhāgawat,* 10.1.55.
35. *Harivaṁsapurāṇa* of Jinasena, 34.32; *Triṣaṣṭi.,* 8.5.115.
36. *Śrīmad Bhāgawat,* 10.4.8-12.
37. Ibid, 10.25.26.
38. *Triṣaṣṭi.,* 8.5.16.
39. *Śrīmad Bhagawat,* 10.6.4-13.
40. *Triṣaṣṭi.,* 8.5.141; *Bhavabhāvanā,* 2211-15.
41. *Harivaṁsapurāṇa,* 35.45.
42. *Śrīmad Bhāgawat,* 10.10.1-43.
43. *Triṣaṣṭi,* 8.5.202-7; *Bhavabhāvanā,* 2352-59.
44. *Śrīmad Bhāgawat,* 1.15.20-40.
45. *Harivaṁsapurāṇa,* 36.8-10.
46. *Śrīmad Bhāgawat,* 10.16-17th Chapter
47. *Triṣaṣṭi,* 8.5.313.
48. *Triṣaṣṭi,* 8.5.344-362. *Harivaṁsapurāṇa* refers to so many wars held between yādavas and Jarāsandha.
49. *Antagaḍadasāo,* 1.1; *Vasudeva Hiṇḍī,* p. 78-79.
50. *Triṣāṣṭi,* 8.6.48-60.
51. *Triṣaṣṭi,* 8.7.446-457; *Harivaṁsapurāṇa,* 42-67-601.
52. *Mahābhārata,* Sabhāparva, Chapter 19-1522.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

53. *Triṣaṣṭi*, Parva 8, Sarga, 51.58; *Harivaṁsapurāṇa*, p. 55.
54. *Triṣaṣṭi*, 8.10; *Pāṇḍavacaritra*, Sarga 4.
55. *Jñātādharmakathā*, Chapt. 16 etc.
56. *Antagadasūtra*, 171; *Pāṇḍavacaritra*, etc.
57. *Mahābhārata*, Udyogaparva, Chapt. 20.
58. *Mahābhārata*, Udyogaparva
59. *Pāṇḍavacaritra* of Devaprabhasūri, p. 348.
60. See, *Cauppannamahāpurisacariu*, Triṣaṣṭi etc.
61. See *Harivaṁsapurāṇa*, *Pāṇḍavapurāṇa*, etc.
62. *Uttarapurāṇa*, 70.2-3.
63. *Pāṇḍava Purāṇa* of Subhacandra, 22.42-43.
64. Vādiraja's Pāṇḍava Purāṇa 1.72-93, P.S. Jaini- *Mahābhārata* Motives in the *Jaina Pāṇḍava Purāṇa*, article published in Bulletin of the School of Oriental and African Studies, Vol. XLVII, Pt. I, pp. 108-115.
65. Ibid, 1.105-106.
66. Ibid, 1.113-118.
67. Ibid, 1.137-45.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Presidential Address of Professor Y. C. Simhadri at

Seminar on Ādarśa Parivāra kī Samkalpanā - Dharmashastra ke Pariprekṣa Mein

(Nature of Ideal Familly in the Light of Scriptural Texts) on May 14, 2000 (Sunday)

Pūjya Ācārya Deva Shrimad Vijay Rajyash Surishwar ji Maharaj, Padmabhushan Prof. Vidyanivas Mishra ji, Kunwar Vijayanand Singh ji, Prof. Bhagchandra Jain ji, the members of Shri Banaras Parshwanath Jeernoddhar Trust and Jain Shwetambar Teerth Society,' members of the press, Ladies and Gentlemen --

I would like to thank the organizers for inviting me to Preside over this Inaugural session and felicitating me.

It is heartening to see that a spirited discussion is taking place here, on the occasion of honouring a number of scholars, regarding the nature of an Ideal Family as understood in the light of scriptures. This event is taking place in the presence of great Jain Spiritual leaders and thinkers. Such an event is bound to influence the society. The presence of the Śramaṇas (**श्रमणाः**) and Śrāvakas (**उपासकाः**) here shows that Indian society is always sensitive towards new challenges posed by our changing times. The answer to such burning question of the changing nature of family-institution lies in our own time-tested tradition reflected in various, but unified, streams of religions, We have to strengthen our age-old ideals of family based on universal values without discarding the healthy and inevitable changes in our pattern of family-life.

Investigation into the nature of family-institution has been a fond subject among the modern Anthropologists and Sociologists. The study of the history of the family dates from 1861 from the publication of Bachofen's "Mother Right". In this work, the author advances the notion of gradual evolution of the institution of the family from state of sexual promiscuity to the monogamy and patriarchal form of family

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

through the matrilarchal society. The method adopted by the author was materialistic, historical, economic and anthropological based on the analysis of the pattern of sexual relationship of the time as well as mode and ownership of production such as food etc. This new method changed the, understanding, of the 19th century Europe, which was based primarily on scriptures such as five books of Moses and so on. This new approach for sociological studies gathered strength in course of time and became dominant mode of understanding society. Now, resent tremendous technological revolution has added as new dimension. Contemporary Post-modern Scenario is frightful with the danger of gradual disintegration of the family-institution itself. The idea of Empowerment of the women and other marginalised sections of society and the notion of liberation of women-both the ideas are lofty ones, but-weakening of the family-institution, which is happening fast in Post-modern society can never be accepted, if we have to attain a healthy growth of humanity.

These developments necessitate our search for already existing alternative approach towards family-institution, i.e. the notion of ideal family as taught and reflected in Dharmaśāstra or Religious scriptural texts, especially in Indian Dharmaśāstric tradition which not only postulates the ideal state of family, but visualizes entire universe, in terms of a family --

"Vasudhaiva Kutumbakam"

Entire globe is a family

It sounds so paradoxical that we have now, the physical basis for a unified world with the advancement of communication and technology which may open the gate for turning entire globe into one family, but in reality, it has sounded the note of alarm in threatening the very institution of family itself. Thus, it is natural for us to turn towards our tradition and reiterate the notion of ideal family as put forward in the ancient scripture.

The institution of family has been viewed in religious texts primarily from the angle of certain value-system. The institution of marriage has not been viewed simply from the angle confirac of mode of sexual relationship and gradual and ultimate male-domination in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

a patriarchical society, as it has been viewed by the modern Anthropology, rather, a basically different approach appears in the religions towards marriage which not only grant a high degree of sanctity to the institution of marriage, but infuse a much-wider meaning, value and scope in the notion of family. Instead of a purely materialistic, highly individualistic and grossly consumerist and essentially pragmatic approach adopted towards the notion of faimily, all the true religions offer an alternative approach spiritually sound, socially enlightened and experientially inspired by high values of love, self-sacrifice, compassion and self-restrain etc. Especially in India, family has been viewed as the very basis of all social, religious and spiritual life apart from its being a basis for human love as well as economic welfare. Entire Indian religious literature emphasizes the importance of four goals of life to be attained - namely - Dharma, Artha, Kāma as well as Mokṣa. They are to be pursued simultaneously and none of them can be ignored. Mahābhārata declares --

Dharmārthakamaḥ samameva sevyaḥ
Yo hyekaśaktaḥ sa jano jaghanyaḥ

Dharma (religious, moral and ethical pursuits), Artha (economic and social goals), Kāma (the pursuit of love) the Mokṣa (the highest spiritual goals of realization of release from the cycle of death and rebirth) has to be pursued with equal emphasis and simultaneously. The one who engages himself in the pursuit of only one of them is the worst and, hence, censurable. Family life or the life of the Householder (Gṛhastha or Śrāvaka) is the basis of all the individual as well as social activities for the realization of Dharma, Artha and Kāma. Thus, family has been viewed as the smallest socio-religious unit for the realization of the goals of human life in their totality. In individual sphere, household life should ultimately lead for one's own spiritual goal of Mokṣa and in social sphere it must provide service towards all others including the Śramaṇas or the Sanyāsins who have renounced the world. Thus, household or family life is the basis of society in its entirety.

This is the reason why ten-fold universe Dharma has been taught as the bedrock of the ideal family. These ten aspects of Dharma are essentially the same in Vedic as well as Śramaṇa traditions Jain

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Śramaṇa tradition enumerates them as --

Uttama Kṣamā	--	The best tolerance
Uttam Ārjava	--	The best uprightness, simplicity
Uttam Śauca	--	The best piety
Uttam Satya	--	The highest truthfulness
Uttam Saṃyama	--	The best retraint
Uttam Tapa	--	The best penance
Uttam Tyāga	--	The best renouncing
Uttam Ākiñcanya	--	The best want of possession, and so on.

These ten-fold universal Dharma aspects are the same in Vedic tradition also. They have been further reduced in five values of --

Ahimsā	--	Non-injury
Satya	--	Truth
Asteya	--	Non-stealing
Bramhacarya	--	Celibacy; and
Aparigraha	--	Non Possession or the minimal Possession of the objects of requirement.

These values are the basis for the conduct of house-hold life 'Aṇuvrata' form and they are 'viewed as Mahāvrata-form for the Śrāvakas in their rra for the medicants or the Munies. The ideal family is viewed in terms of observance of these five small vows, Jain Āgamas prescribe six acts for the ideal family life. These are--

Devapūjā	--	Worship of the Gods
Gurupāsti	--	The respect for the Guru
Svādhyāya	--	Reading of the scriptures
Saṃyama	--	Self restraint
Tapa	--	Penance
Dāna	--	Charity

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Śramaṇa tradition emphasizes for the observance of Non-injury (Ahimsā), truthfulness (Satya) and 'Non possession' (Aparigraha) in the household life which, Purity it turn into it as the ideal one.

A family based on such universal moral Values may be the idcal family. This may be an answer for tlle stress generating from the maladies of modern life. The loss of Values and the pressure of ecological imbalance and atmospheric pollution as well as wide-spread corruption in our society are causing strains in our life and weakening of family life. The ideals taught in our Dharmaśāstric texts are still relevant today. In fact, loss of character and integrity, apathetic attitude towards our duty, very narrow attitude, of self-interest and lack of the sense of our responsibility towards society and the nature around us, lack of patriotism, wide spread corruption, violence bestial indulgence in grossest sensual pleasure are the glaring maladies of modern society. Answer to these maladies lies in the concept of ideal family taught in our Dharma-śāstras.

The external aspect of religion may divide us, but the true and the core of religion unites us and upholds the smallest social unit, i.e., the family,

I hope this eternal, true and universal religiosity would continue to mould of family institution and, thus, we shall be able to Maintain the high ideals of family not only for ourselves, but for the rest of the humanity also as the path-setter.

So, in the prevailing circumstances, I would like to thank the organizers Prashwanath Vidyapeeth and Banaras Parsvanath Jirnoddhara trust and especially to great Acarya Pujya Rajyash Surishvar ji Maharaj for his inspiration and blessing in organizing this seminar on such a burning topic, which has assumed global reference. Our sacred religious treatises or canons are our constant guide not only in spiritual life but also in temporal life. So, I hope that the serious deliberation, which will follow in the next session will provide guidance to the problems of society.

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रांगण में
(जनवरी से जून २००० तक)

भगवान् चन्द्रप्रभ और भगवान् पार्श्वनाथ की जयन्ती के पावन पर्व पर दिनांक १ जनवरी को पार्श्वनाथ विद्यापीठ में सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक श्री शरद् कुमार 'साधक' का व्याख्यान आयोजित किया गया। अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा कि जैन धर्मावलम्बी भारत के मूल निवासी हैं और अपने कथन के समर्थन में उन्होंने अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत थे। अहिंसा की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह धर्म नहीं अपितु जीवन शैली है। साधु की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि सज्जन पुरुष ही साधु हैं और उनका अनुकरण करने वाले श्रावक। अपने वक्तव्य में उन्होंने पञ्चपरमेष्ठी की नई व्याख्या भी प्रस्तुत की। भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करते हुए उन्होंने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये और इस दिशा में आगे शोधकार्य हेतु युवा विद्वानों का आह्वान भी किया।

दिनांक १२ जनवरी को आचार्य श्री सन्मतिसागर के संघस्थ मुनि सुनीलसागर जी द्वारा अनूदित और डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' द्वारा सम्पादित **वसुनन्दि श्रावकाचार** का विमोचन भेलूपुर, वाराणसी स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर में हुआ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण व्यय दिगम्बर जैन समाज, वाराणसी ने वहन किया जिससे विद्यापीठ इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर सका।

व्यस्तताव़श संस्थान के निदेशक महोदय जयपुर में आयोजित संगोष्ठी में नहीं पहुँच सके। प्रो० भागचन्द्र भास्कर व डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय २६ जनवरी को फरीदाबाद पहुँचे और वहाँ उन्होंने प्रबन्ध समिति की बैठक में भाग लिया। २८ जनवरी की शाम ये लोग अहमदाबाद रवाना हो गये। ३० जनवरी को वहां पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित *Multi Dimensional Application of Anekāntavāda* नामक पुस्तक के विमोचन समारोह में भाग लिया। इस अवसर पर नवीन इन्स्टिट्यूट ऑफ स्पिरीचुअल डेवलपमेण्ट, अहमदाबाद और पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा संयुक्त रूप से एक सङ्गोष्ठी का भी आयोजन किया गया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मार्गदर्शक प्रो० सागरमल जैन जी भी इस अवसर पर उपस्थित थे। इसी समय दोनों संस्थाओं के बीच शैक्षणिक सहयोग पर भी सफल चर्चा हुई और फलस्वरूप एक प्रारूप भी तैयार किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्थान के निदेशक जम्मू विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा २-३ फरवरी २००० को आयोजित संगोष्ठी में भाग लेने पहुंचे और वहां **अनात्मवाद ऐज डिपेक्टेड इन मिलिन्दप्रश्न** नामक अपने शोधपत्र का वाचन किया और एक सत्र की अध्यक्षता भी की। ५ फरवरी को संस्थान में पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय द्वारा सम्बद्धता हेतु आयी हुई टीम के सदस्यों ने यहां की गतिविधियों का अवलोकन कर प्रसन्नता व्यक्त की और बहुत अच्छी आख्या प्रस्तुत की।

७ फरवरी को संस्थान के निदेशक अपने सहयोगियों डॉ० अशोक कुमार सिंह एवं डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय के साथ राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के कुलपति से मिले और उनसे संस्थान में अपना एक केन्द्र खोलने हेतु आवेदन-पत्र दिया जिसके प्रत्युत्तर में कुलपति महोदय ने बतलाया कि विश्वविद्यालय के नियमानुसार इसका केन्द्र किसी निजी संस्थान में नहीं खोला जा सकता। उन्होंने कहा कि यद्यपि निजी संस्थान हर प्रकार से सार्वजनिक संस्थाओं से बेहतर हैं; किन्तु नियमों से बंधे होने के कारण वे पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मुक्त विश्वविद्यालय का केन्द्र खोलने की अनुमति देने में असमर्थ हैं।

९ फरवरी को सुप्रसिद्ध चिन्तक श्री क्रान्ति कुमार जी के सारनाथ स्थित आवास पर आयोजित संगोष्ठी में संस्थान के निदेशक प्रो० भास्कर ने **श्रमण संस्कृति में जाति व्यवस्था** पर अपना गम्भीर व्याख्यान प्रस्तुत किया। इसी दिन पर्यटन विभाग, उत्तर प्रदेश के सारनाथ स्थित कार्यालय में उन्होंने 'योग पैकेज' पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से एक कार्यक्रम स्वीकार करने के लिये आवेदन कर संस्थान को वाराणसी के पर्यटन मानचित्र पर संयोजित करने का अनुरोध किया।

१४ फरवरी को निदेशक महोदय नागपुर विश्वविद्यालय के प्राकृत-पालि पाठ्यक्रम की बैठक में भाग लेने हेतु नागपुर गये। तदनन्तर २४ फरवरी को संस्थान के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जी 'भास्कर' और प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय विद्यापीठ की प्रबन्ध समिति के निर्देश पर फण्ड संकलन हेतु इलाहाबाद और इन्दौर गये। कतिपय अपरिहार्य कारणों से प्रबन्ध समिति के निर्देश पर वहां से आगे न जा सके और वापस वाराणसी आ गये।

फरवरी माह में मासिक संगोष्ठी के अन्तर्गत विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह ने दिनांक ११ फरवरी को **जैन अभिनन्दन एवं स्मृतिग्रन्थ : एक सर्वेक्षण** नामक विषय पर अपने महत्त्वपूर्ण शोध आलेख का वाचन किया और विभिन्न नई सूचनायें प्रदान कीं।

फरवरी माह के द्वितीय सप्ताह में विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० शिवप्रसाद अपने शोधकार्य के सम्बन्ध में प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर गये और वहां वे एक सप्ताह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे। अपने जयपुर प्रवास के दौरान उन्होंने अकादमी के निदेशक महोपाध्याय विनयसागर जी से अपने प्रकाश्यमान शोध ग्रन्थ— **खरतरगच्छ का इतिहास** के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्राप्त किये। श्री विनयसागर जी ने उन्हें अपने द्वारा अत्यन्त परिश्रम से लगभग ५० वर्ष पूर्व तैयार की गयी **खरतरगच्छीय साहित्य सूची** नामक अप्रकाशित ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भी प्रदान की जिससे शोधकार्य में पूर्णता आ सके। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तावित शोधग्रन्थ पार्श्वनाथ विद्यापीठ और प्राकृत भारती अकादमी के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित किया जायेगा।

३ मार्च को संस्थान के निदेशक प्रो० भास्कर के नेतृत्व में जैन समाज, वाराणसी के सक्रिय कार्यकर्ता श्री शान्तिलाल जी जैन, श्री विनोद जैन आदि सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल मण्डलायुक्त श्री मनोज कुमार से मिला और उनसे वाराणसी के घाटों के रख-रखाव की जिम्मेदारी जैन समाज को सौंपने का आग्रह किया जिस पर माननीय आयुक्त महोदय ने गम्भीरतापूर्वक विचार करने का आश्वासन दिया।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदानविषयक संगोष्ठी सम्पन्न

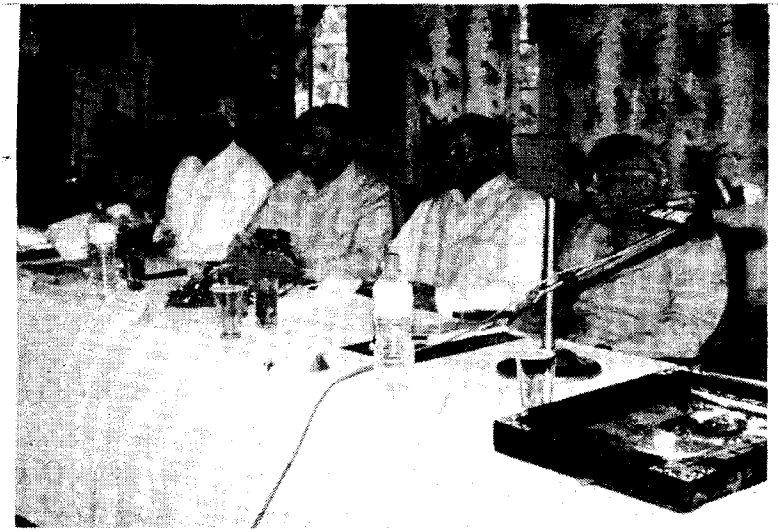

संगोष्ठी में मच पर विराजित डॉ० ज्योत्सना श्रीवास्वत, प्रो० सागरमल जैन, श्री इन्द्रभूति बरड़, श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव (वित्तमन्त्री, उ०प्र० शासन) एवं प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं जैन समाज, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में ४ मार्च को विद्यापीठ के भव्य सभागार में **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान** विषयक एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें उत्तर प्रदेश शासन के वित्तमन्त्री माननीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

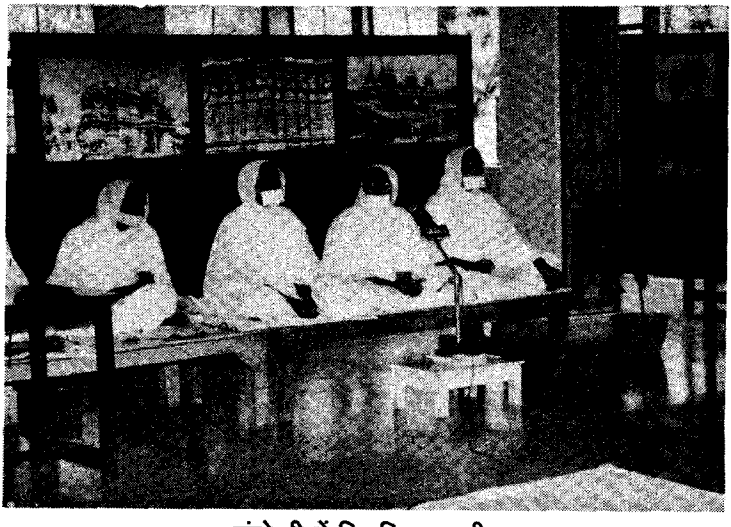

संगोष्ठी में विराजित साध्वीगण

श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा ने की। इस अवसर पर अमेरिका से पधारे श्री सुलेखचन्द जैन ने विद्यापीठ को एक लाख रुपये प्रदान करने की घोषणा की। अपने उद्बोधन में माननीय वित्तमन्त्री जी, जो स्थानीय विधायक भी हैं, ने भी वर्ष २०००-२००१ में विधायक निधि से विद्यापीठ को एक लाख रुपये देने का वचन दिया। उन्होंने संस्थान की गतिविधियों, शोधकार्य, प्रकाशन, संग्रहालय, पुस्तकालय आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। इस अवसर पर प्रो० भागचन्द्र जी द्वारा लिखित पुस्तक **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान** का विमोचन भी सम्पन्न हुआ। तेरापंथी जैन समाज की साध्वी सोमलता जी ठाणा ५ और स्थानकवासी जैन समाज की साध्वी मंगलप्रभा जी ठाणा ३ एवं तीन वैरागन बहनों की उपस्थिति विशेष उल्लेखनीय रही। विद्यापीठ की प्रबन्ध समिति की ओर से श्री इन्द्रभूति जी बरड़ एवं संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० सागरमल जैन ने भी इस अवसर पर उपस्थित रहकर कार्यक्रम की गरिमा बढ़ाई।

संगोष्ठी के द्वितीय सत्र में डॉ० नन्दलाल जैन, रीवा; डॉ० रतनचन्द जैन, भोपाल; डॉ० के०एम० त्रिपाठी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि के शोधपत्रों का वाचन हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता कला-इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डॉ०दीनबन्धु पाण्डेय ने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ जैन स्टडीज से सम्बन्धित बैठक सम्पन्न

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ जैन स्टडीज के प्रधान सम्पादक प्रो० सागरमल जैन तथा उसके विभिन्न खण्डों के लेखकगण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रो० सागरमल जैन के प्रधान सम्पादकत्व में तैयार होने वाले प्रस्तावित **इन्साइक्लोपीडिया ऑफ जैन स्टडीज** के सभी खण्डों के लेखकों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बैठक भी इसी अवसर पर ५ मार्च को हुई जिसमें सभी विद्वान् लेखकों द्वारा अपने-अपने खण्डों पर तैयार की गयी विस्तृत रूपरेखा पर डॉ० साहब ने विशद् चर्चा की और उन्हें आवश्यक निर्देश तथा मार्गदर्शन प्रदान किया। यह भी निश्चित किया गया कि इसकी आगामी बैठक सितम्बर २००० में बुलायी जायेगी।

शोक दिवस— जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् पं० दलसुख भाई मालवणिया का यद्यपि १ मार्च को निधन हो गया था, परन्तु विद्यापीठ में यह सूचना अत्यन्त विलम्ब से ६ मार्च को प्रातःकाल प्राप्त हुई। पण्डित जी के निधन का समाचार प्राप्त होते ही विद्यापीठ में शोक की लहर व्याप्त हो गयी और प्रो० सागरमल जी की अध्यक्षता में एक शोकसभा का आयोजन किया गया। इसके तत्काल बाद उस दिन शोकावकाश घोषित कर दिया गया। इसी बैठक में जैन दर्शन के एक अन्य वरिष्ठ विद्वान् डॉ० दरबारी लाल कोठिया के ३ जनवरी को हुए निधन पर भी शोक व्यक्त करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। जैन धर्म-दर्शन के उक्त दो मूर्धन्य विद्वानों के निधन से हुई क्षति की पूर्ति होना कठिन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यापीठ में प्रो० राजमल वोरा का स्वागत

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में दिनांक १० मार्च को मराठावाड़ा विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० राजमल जी वोरा का आगमन हुआ। विद्यापीठ के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जैन ने उनका हार्दिक स्वागत किया। तदनन्तर डॉ० वोरा ने **भारतीय भाषाओं के विकास में प्राकृत का योगदान** विषय पर अपना व्याख्यान दिया। इस अवसर पर उन्हें विद्यापीठ के कतिपय नवीन प्रकाशन भी भेंट किये गये।

१० मार्च को प्रातःकाल साध्वी श्री मंगलप्रभा जी अपने संघ के साथ विद्यापीठ में संस्थान के निदेशक के आमन्त्रण पर पधारीं। सभी ने उनका हार्दिक स्वागत किया।

संस्कृत सम्भाषण शिविर

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में १२ मार्च से ही संस्कृत भारती की ओर से छह दिवसीय संस्कृत सम्भाषण शिविर का आयोजन किया गया जिसमें साध्वी मंगलप्रभा जी ठाणा ६, उनके साथ रहने वाली वैरागन बहनों तथा विद्यापीठ में निवास करने वाले शोधच्छात्रों ने भाग लिया। शिविर के समापन के अवसर पर १७ मार्च को आयोजित संक्षिप्त कार्यक्रम में प्रो० सुदर्शनलाल जैन, डॉ० कमलेशकुमार जैन, प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' आदि विद्वान् उपस्थित थे। आप सभी ने संस्कृत भाषा में ही अपने भाषण दिये। इस शिविर में भाग लेने वाले प्रत्येक अभ्यर्थी ने भी कार्यशाला के अपने अनुभवों की संस्कृत भाषा में ही चर्चा की। इस अवसर पर निदेशक महोदय ने कार्यशाला के संचालक श्री विजयकरण जी को शाल, श्रीफल एवं संस्थान के कतिपय प्रकाशन भेंट कर उनका सम्मान किया।

विद्यापीठ में १७ मार्च को ही दोपहर में होलीमिलन समारोह का भी आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के प्रो० माहेश्वरी प्रसाद ने की। इस समारोह में विद्यापीठ के सभी कर्मचारियों ने एक दूसरे को अबीर-गुलाब लगाकर होली की शुभकामनायें दीं। समारोह के अन्त में अल्पाहार का भी सुन्दर कार्यक्रम रहा।

पच्चीस मार्च को साध्वी मंगलप्रभा जी ठाणा ६ ने चातुर्मासार्थ चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) की ओर विहार किया।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के पावन सान्निध्य में २७-३० मार्च को चुरु (राजस्थान) में "मनोऽनुशासन" पर ४ दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें विद्यापीठ के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' ने **मनोऽनुशासन में प्रतिबिम्बित जैन-बौद्ध साधना** नामक विषय पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया और एक सत्र की अध्यक्षता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी की। वहां से लौटते हुए प्रो० भास्कर कुछ समय के लिये फरीदाबाद भी रुके और वहां उन्होंने प्रबन्ध समिति के माननीय सदस्यों को विद्यापीठ के गतिविधियों की जानकारी प्रदान की।

अप्रैल माह के प्रथम सप्ताह में खजुराहो में आयोजित संगोष्ठी में भी प्रो० भास्कर को आमन्त्रित किया गया, परन्तु व्यस्तता के कारण वे उसमें सम्मिलित न हो सके। १० अप्रैल को इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज, शिमला में आयोजित संगोष्ठी में भाग लेने के लिये प्रो० भास्कर वहां गये और उन्होंने *Jain Version of Mahābhārata* नामक शोधपत्र का वाचन किया। इसी संस्थान में १४-१५ अप्रैल को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा आयोजित संगोष्ठी में भी उन्होंने अपना विचार व्यक्त किया। इसी बीच इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज के निदेशक प्रो० विनोदचन्द्र श्रीवास्तव से उनकी संस्था और पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में कतिपय शैक्षणिक कार्यक्रमों के आयोजन की सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श किया। इस अवसर पर उन्हें एक प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया गया जिस पर प्रो० श्रीवास्तव ने विद्यापीठ को हर सम्भव सहयोग देने का आश्वासन दिया।

शिमला से लौटते हुए प्रो०भास्कर नोएडा में रुके जहां उन्होंने महावीर जयन्ती के कार्यक्रम में भाग लिया। १७-१९ अप्रैल को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नई दिल्ली में प्राकृत विषय पर आहूत कार्यशाला में भी उन्होंने भाग लिया।

२० अप्रैल से निदेशक महोदय ने वाराणसी की गौरवमयी संस्था ज्ञानप्रवाह द्वारा मथुरा कला पर आयोजित कार्यशाला में भाग लिया। इस कार्यशाला का समापन ३० अप्रैल को हुआ। इस बीच भेलूपुर स्थित नवनिर्मित श्वेताम्बर जैन मन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा हेतु पधारे पूज्य आचार्यश्री राजयशसूरि जी से विभिन्न अवसरों पर उन्होंने भेंट की और उनसे संस्थान में पधारने का आग्रह किया। २३ अप्रैल को भेलूपुर मन्दिर परिसर में आचार्यश्री के सान्निध्य में हुई बैठक में निर्णय लिया गया कि १४-१५ मई २००० को पार्श्वनाथ विद्यापीठ और पार्श्वनाथ श्वेताम्बर जन्मभूमि मन्दिर जीर्णोद्धार ट्रस्ट, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में **आदर्श परिवार की परिकल्पना : धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य** में नामक एक संगोष्ठी और विद्वत्सम्मान समारोह आयोजित किया जाये।

२३-२४ अप्रैल को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में पालि भाषा और साहित्य पर एक संगोष्ठी हुई जिसमें विद्यापीठ के निदेशक ने विशिष्ट अतिथि के रूप में भाग लिया। ३० अप्रैल को ज्ञानप्रवाह में एक एकेडमिक बैठक हुई जिसमें उन्होंने एक नामित सदस्य के रूप में भाग लिया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के भव्य सभागार में ५ मई को प्रो० दीपक मलिक की अध्यक्षता में सामाजिक चेतना मंच और पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''२१वीं शती में मार्क्सवाद'' नामक विषय पर एक परिसंवाद आयोजित किया गया। इसमें मार्क्सवाद और जैनधर्म की समानताओं व असमानताओं की भी विस्तृत चर्चा हुई। ६ मई को श्वेताम्बर जैन मन्दिर भेलूपुर में प्रातःकाल आचार्यश्री राजयशसूरि जी के ५६वें जन्मदिवस के अवसर पर एक भव्य कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सभी विद्वानों को शाल, श्रीफल, पुष्पं-पत्रं से सम्मानित किया गया। विद्यापीठ के निदेशक द्वारा आचार्यश्री के सम्मान में पार्श्वनाथ विद्यापीठ और श्वेताम्बर जैन समाज, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में उन्हें एक अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया। दिनांक ७ मई को आचार्यश्री का दिगम्बर जैन मन्दिर में भी जन्मोत्सव मनाया गया। इस कार्यक्रम में भी निदेशक महोदय ने दिगम्बर समाज की ओर से आचार्यश्री को अभिनन्दन-पत्र भेंट किया।

दिनांक १३ मई को कबीर मठ, वाराणसी में विशाल स्तर पर कबीर जयन्ती महोत्सव का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता विख्यात् कानूनविद् डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी ने की। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णुकान्त शास्त्री और उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री सूरजभान इस समारोह में उपस्थित थे। विद्यापीठ के निदेशक भी इस समारोह में आमन्त्रित रहे। इस अवसर पर उन्होंने डॉ० सिंघवी से विद्यापीठ के विकास एवं इसे मान्य विश्वविद्यालय बनाने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। इस सन्दर्भ में डॉ० सिंघवी ने विद्यापीठ को पूर्ण सहयोग प्रदान करने की बात कही।

१४ मई को विद्यापीठ में आचार्यश्री के सान्निध्य में पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं पार्श्वनाथ मन्दिर जीर्णोद्धार ट्रस्ट, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में **आदर्शपरिवार की परिकल्पना : धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में** नामक संगोष्ठी आयोजित की गयी। इस अवसर पर जैनविद्या के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले २४ विद्वानों का सम्मान भी किया गया। १५ मई को आचार्यश्री के साथ विद्यापीठ के निदेशक ने विस्तार से संस्थान के विकास की भावी योजनाओं पर चर्चा की। आचार्यश्री ने संस्थान को विविध प्रकार से सहयोग देने का वचन दिया और इस सम्बन्ध में एक प्रारूप भी तैयार कर उन्होंने प्रबन्ध समिति के पास विचारार्थ प्रेषित कर दिया।

१८ मई को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में **२१वीं शती और बौद्धधर्म** पर हुई संगोष्ठी में निदेशक महोदय ने भाग लिया। इसी दिन वे नागार्जुन बौद्धप्रतिष्ठान द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय संगोष्ठी में भाग लेने गोरखपुर गये जहां **संस्कृत साहित्य में बौद्धाचार्यों का योगदान** नामक विषय के अन्तर्गत **बौद्धसाहित्य में ओम् की अवधारणा** नामक अपने शोधपत्र का वाचन किया और एक सत्र की अध्यक्षता भी की। यह संगोष्ठी संस्कृत वर्ष २००० के उपलक्ष्य में आयोजित की गयी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६मई को विद्यापीठ परिसर में डॉ० गोकुलचन्द जैन का स्वागत किया गया। इस अवसर पर उन्होंने **जैनविद्या के क्षेत्र में शोध की सम्भावनायें** विषय पर अपना विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया। २७-२९ मई तक विद्यापीठ परिसर में ही राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान द्वारा राय कृष्णदास इण्टैक, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल की पुण्यस्मृति में **भारतीय संस्कृति में शिव** नामक विषय पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें प्रो० भागचन्द्र जी ने **पुराणों में ऋषभ और शिव** नामक शोधपत्र का वाचन किया और एक सत्र की अध्यक्षता भी की। इस संगोष्ठी में विद्यापीठ की ओर से डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, श्री ओमप्रकाश सिंह, डॉ० शिवप्रसाद तथा डॉ० पुष्पलता जैन ने शोधपत्र प्रस्तुत किये।

३१ मई को विद्यापीठ परिसर में संस्थान की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने हेतु वाराणसी के दो विशिष्ट पत्रकार आये जो **टाइम्स ऑफ इण्डिया** एवं **पायनियर** से सम्बद्ध थे।

दिनांक ४ जूनको विद्यापीठ में निःशुल्क स्वास्थ्य परीक्षण शिविर का आयोजन किया गया जिसमें डॉ० सुबोध जैन, एम०डी० एवं डॉ० श्रीमती अर्चना जैन, एम०डी० ने यहां के लोगों के स्वास्थ्य का परीक्षण किया और उन्हें आवश्यक चिकित्सकीय सलाह प्रदान की। यह शिविर विशेष रूप से संस्थान परिसर एवं समीपवर्ती परिवारों तक ही सीमित रहा।

स्वास्थ्य एवं दैनन्दिनी को नियमित करने हेतु संस्थान में दिनांक ७ जून से १५ दिवसीय **योगशिविर** का आयोजन किया गया जिसका संचालन डॉ० सुधा जैन, प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने किया। यह शिविर प्रतिदिन प्रातः ५ बजे से ६ बजे तक चला। इसे भी संस्थान से सम्बद्ध परिवारों तक ही सीमित रखा गया।

श्रुतपञ्चमी के अवसर पर ६ जून को मालपुरा (राजस्थान) तथा एन०सी०आर०टी० के महावीर सम्बन्धी पाठ्यक्रम पर हस्तिनापुर में ११ जून को आयोजित संगोष्ठियों में संस्थान के निदेशक व्यस्ततावश भाग नहीं ले सके। हस्तिनापुर संगोष्ठी में उन्होंने **तीर्थङ्कर महावीर और जैनधर्म** नामक निबन्ध आयोजकों के पास विचारार्थ भेज दिया जिसमें एन०सी०आर०टी० द्वारा प्रकाशित आलेख का सप्रमाण खण्डन है।

आठ जून को संस्थान के निदेशक डॉ०जैन ने सारनाथ में होने वाले बौद्ध कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि के रूप में भाग लिया।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में विद्वत् सम्मान समारोह एवं संगोष्ठी का विवरण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं श्री बनारस पार्श्वनाथ मन्दिर जीर्णोद्धार ट्रस्ट के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित विद्वत् सम्मान समारोह एवं **आदर्श परिवार की परिकल्पना : धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में** नामक संगोष्ठी सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री राजयश सूरिजी महाराज के पावन सान्निध्य में विद्यापीठ के प्राङ्गण में दिनांक १४ मई को हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न हुई। इस कार्यक्रम में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर वाई०सी० सिम्हाद्रि मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। पद्मविभूषण प्रो० विद्यानिवास मिश्र की अध्यक्षता में कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम साध्वीवृन्द द्वारा प्रस्तुत मङ्गलाचरण और श्रीमती रंजना जैन द्वारा स्वागत गीत हुआ। आगन्तुक अतिथियों का स्वागत पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' तथा कार्यक्रम का संचालन कुँवर विजयानन्द सिंह ने किया। इस अवसर पर अपने आशीर्वाद में आचार्यश्री ने कहा कि यह संसार कोई सीधी रेखा या सरल लाइन नहीं है। इसे न ही त्रिकोण कहा जा सकता है और न ही चतुष्कोण अपितु इसे चक्र कहा जाता है। जीवन की परिस्थिति ऐसी है कि जिसमें अनुकूलता और प्रतिकूलता आती रहती है। जीवन में मान-अपमान, प्रगति-अधोगति आती रहती है। ये सब चक्र चलते रहते हैं। संसार को चक्र इसलिये कहा गया है कि चक्र में कहीं आदि और अन्त नहीं होता। उन्होंने कहा कि चक्र भौतिकवाद की प्रगति के सत्य और अध्यात्मवाद में समाहित सत्य दोनों का निर्देशन करता है। मुख्य अतिथि के रूप में अपने उद्‌बोधन में प्रो० सिम्हाद्रि ने कहा कि आज नैतिक मूल्यों के ह्रास से जीवन शैली प्रभावित हुई है। आगे उन्होंने कहा कि धर्मशास्त्रों में वर्णित आदर्श आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने प्राचीन काल में थे। इस अवसर पर जैनविद्या के क्षेत्र में विशिष्ट शोधकार्य कर रहे विद्वानों का सम्मान किया गया। सम्मानित होने वाले विद्वानों में प्रो० सिम्हाद्रि, प्रो० विद्यानिवास मिश्र, प्रो० सी०एस० उपासक, प्रो० आनन्दकृष्ण, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय, डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय, डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी, डॉ० कमल गिरि, डॉ० हरिहर सिंह, प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर', प्रो० सुदर्शन लाल जैन, डॉ० फूलचन्द जैन, डॉ० कमलेश कुमार जैन, डॉ० मुकुलराज मेहता, डॉ० भानुशंकर मेहता, डॉ० रत्नेशकुमार वर्मा, श्री क्रान्तिकुमार जी, श्री जमनालाल जैन, श्री सत्येन्द्र मोहन जैन आदि प्रमुख थे। प्रत्येक विद्वान् को शान्ति-सुखपरिवार, लन्दन की ओर से एक शाल, श्रीफल, आचार्यश्री द्वारा प्रणीत पुस्तकें एवं विद्यापीठ की स्मारिका भेंट की गयी।

इस सम्मान समारोह में प्रो० राममूर्ति शर्मा, कुलपति- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, प्रो० वी० वेंकटाचलम्, प्रो० एस० रिम्पोछे, निदेशक- तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ, प्रो० रामजन्म सिंह, कुलपति- महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो० माहेश्वरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; वाराणसी, प्रो० प्रेमचन्द्र पातञ्जलि, कुलपति, पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर; श्रीमती विमला पोद्दार, अधिष्ठात्री, ज्ञानप्रवाह आदि कुछ विद्वान् वाराणसी से बाहर होने के कारण नहीं पधार सके।

द्वितीय सत्र का प्रारम्भ प्रो० भागचन्द्र जैन के विषय प्रवर्तन से हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय ने की। इस सत्र में डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय, श्री क्रान्ति कुमार जी, श्री जमनालाल जी जैन, डॉ० कमलेश कुमार जैन एवं डॉ० सुदर्शनलाल जैन आदि ने आदर्श परिवार की परिकल्पना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। अन्त में प्रो० पाण्डेय ने अपना अध्यक्षीय भाषण दिया। कार्यक्रम के पश्चात् सामूहिक भोज का आयोजन रहा जिसमें आगन्तुक विद्वानों एवं बड़ी संख्या में पधारे वाराणसी जैन समाज के लोग सम्मिलित हुए।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में भारतीय संस्कृति में शिव विषय संगोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

वाराणसी ३० मई : राय कृष्णदास इण्टेक न्यास, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल की स्मृति में दिनांक २७-२९ मई २००० को विद्यापीठ के सभागार में **भारतीय संस्कृति में शिव** विषयक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में ४० शोधपत्र पढ़े गये जो इतिहास, राजनीति, दर्शन, कला, संस्कृति, भूगोल, अध्यात्म, तन्त्र आदि विधाओं पर आधारित थे। शोधपत्र वाचकों में राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली के पूर्व निदेशक सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ के पूर्व निदेशक प्रो० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, शैवदर्शन के उद्भट् विद्वान् प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, सुप्रसिद्ध विचारक डॉ० भानुशंकर मेहता आदि प्रमुख थे। प्रख्यात कलाविद् प्रो० आनन्दकृष्ण ने इस संगोष्ठी में पढ़े गये शोधपत्रों की समीक्षा प्रस्तुत की। इस संगोष्ठी में पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जैन ने **पुराणों में ऋषभदेव और शिव**; डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, नागपुर ने **महाभारत और जिनसेन के आदिपुराण में वर्णित शिव**; डॉ० अशोक कुमार सिंह ने **जैन संस्कृत नाटकों में शिव**; डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने **जिनसहस्र नाम में उपलब्ध शिव नाम : एक विवेचन**; श्री ओमप्रकाश सिंह ने **अमरकोश में वर्णित शिवतत्त्व** और डॉ० शिवप्रसाद ने **विविधतीर्थकल्प में उल्लिखित कतिपय ज्योर्तिलिंग** नामक अपने शोधपत्रों का वाचन किया। संगोष्ठी के प्रथम सत्र की अध्यक्षता भी संस्थान के निदेशक डॉ० भागचन्द्र जी ने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय संस्कृति में शिव तत्त्व नामक संगोष्ठी के अवसर पर पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय के कुलपति माननीय प्रो० प्रेमचन्द्र पातंजलि को विद्यापीठ की ओर से प्रतीकचिन्ह भेंट करते हुए प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

संगोष्ठी के समापन समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में प्रो० प्रेमचन्द्र पातञ्जलि, कुलपति- पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर ने भारतीय संस्कृति में शिवतत्त्व की प्रासंगिकता बताते हुए शिव और ऋषभदेव को एकात्मकता का प्रतीक बतलाया। इस अवसर पर उनका स्वागत संस्था की ओर से डॉ० भागचन्द्र जैन ने किया और उन्हें विद्यापीठ का प्रतीक चिन्ह तथा नये प्रकाशन भेंट किये। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के परिसर, ग्रन्थालय और संग्रहालय एवं इसकी सुव्यवस्था देखकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि शीघ्र ही यह संस्थान पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो जायेगा और यह पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय के लिये गौरव का विषय बनेगा। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस संगोष्ठी में शिव और ऋषभदेव के व्यक्तित्व की एकता वाला पक्ष अधिक उभर कर सामने आया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता १९९९-२००० का परिणाम घोषित

जैनधर्म एक मानवतावादी धर्म है। उसकी अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति ने प्राणिमात्र के कल्याण को ही अपना अभीष्ट माना है। आज के वर्तमान परिवेश में जबकि भाषा, जाति और सम्प्रदाय के आधार पर कटुता पैदा कर अलगाववादी ताकतें व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, समाज और धर्म के बीच दीवार खड़ी करने पर आमादा हैं तथा सुविधावादी संस्कृति से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, जैनधर्म की प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी है। इसकी चारित्रिक दृढ़ता और समन्वयवादिता २१वीं शती के लिए एक वरदान सिद्ध हो सकती है।

इसी पृष्ठभूमि के साथ लाला हरजसराय जैन पब्लिक चैरिटेबुल ट्रस्ट के सहयोग से पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा विगत वर्ष १९९९ में नयी पीढ़ी के बौद्धिक विकास एवं जैनधर्म के प्रति उनकी सतत् जागरूकता बनाये रखने के उद्देश्य से अखिल भारतीय स्तर पर एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इस प्रतियोगिता में आयु के आधार पर प्रतियोगियों को दो वर्गों में बांटकर उनसे निबन्ध आमन्त्रित किये गये। प्रथम वर्ग 'अ' में १८ वर्ष से कम उम्र के प्रतियोगी तथा द्वितीय वर्ग 'ब' में १८ वर्ष एवं उससे अधिक उम्र के प्रतियोगी रखे गये। दोनों वर्गों के प्रतियोगियों के लिए समान रूप से तीन पुरस्कार रखे गये- प्रथम पुरस्कार रु० २५००/-, द्वितीय पुरस्कार रु० १५००/- एवं तृतीय पुरस्कार रु० १०००/-।

प्रतियोगिता का विज्ञापन देश की सभी प्रमुख जैन पत्र-पत्रिकाओं में इस आशय के साथ दिया गया कि इसमें अधिक से अधिक प्रतियोगी भाग ले सकें। पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित इस शोध पत्रिका 'श्रमण' के दो अंकों में इस प्रतियोगिता के दो अलग-अलग विज्ञापन हिन्दी और अंग्रेजी में दिये गये। इस प्रथम प्रयास का परिणाम अच्छा रहा और देश के कोने-कोने (उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, गुजरात, पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र) से कुल ३२ प्रतियोगियों ने इस निबन्ध-प्रतियोगिता में भाग लिया। प्रथम वर्ग 'अ' (A) में कुल ८ (४ पुरुष और ४ महिला) तथा वर्ग 'ब' (B) में कुल २४ (१२ पुरुष और १२ महिला) प्रतियोगियों ने भाग लिया। सभी प्राप्त निबन्धों को उनके वर्ग के अनुसार एक विशेष कोड नं० दिये गये और उन्हें निर्णय हेतु जैनधर्म-दर्शन के तीन सुविख्यात विद्वानों— प्रो० सागरमल जैन, शाजापुर, प्रो० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी और डॉ० धर्मचन्द जैन, जोधपुर के पास भेजा गया। विद्वान् निर्णायकों से जो परिणाम प्राप्त हुए उनके आधार पर अधोलिखित छह विजेताओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का चयन उनके उत्कृष्ट निबन्धों के लिए किया गया —

प्रथम वर्ग 'अ' (A)

१. कुमारी नूतन एस० बाफना, धूलिया (महाराष्ट्र) प्रथम पुरस्कार

२. कुमारी दीप्ति जैन पिराका, सीकर (राजस्थान) द्वितीय पुरस्कार

३. श्री नीलेश कुमार सोनगरा, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) तृतीय पुरस्कार

द्वितीय वर्ग 'ब' (B)

१. कुमारी अर्चना श्रीवास्तव, वाराणसी (उ०प्र०) प्रथम पुरस्कार

२. श्री जेठमल चौरड़िया, कवर्धा (म०प्र०) द्वितीय पुरस्कार

३. श्रीमती उषा नाहर, अजमेर (राजस्थान) तृतीय पुरस्कार

इन सभी पुरस्कार विजेताओं को पुरस्कार की आवण्टित राशि एवं प्रमाणपत्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा १७-१८ सितम्बर, २००० को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रदान किये जायेंगे।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ अपनी स्थापना के समय (१९३७ ई०) से ही जैनधर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार तथा गुणात्मक शोध की दिशा में सतत् सन्नद्ध है। शोध के नित् नये आयामों को अंजाम देता यह संस्थान वर्ष २००० में भी एक निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन करने जा रहा है जिसकी सूचना यथासमय प्रेषित की जायेगी।

प्रोत्साहनस्वरूप सभी विजेता प्रतियोगियों के निबन्धों को सधन्यवाद 'श्रमण' के इस अंक में क्रोडपत्र के रूप में अलग प्रकाशित किया जा रहा है।

यह कहते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है कि समूची निबन्ध प्रतियोगिता में हमारे संस्थान के मन्त्री माननीय श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन एवं संयुक्त मन्त्री श्री इन्द्रभूति बरड़ का विशेष प्रोत्साहन रहा जिनके सक्रिय सहयोग से यह कार्य सफल हो सका।

अन्त में हम सभी प्रतियोगियों के प्रति लाला हरजसराय जैन चैरिटेबुल ट्रस्ट और पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से आभार व्यक्त करना चाहेंगे जिन्होंने हमारे इस ज्ञान-यज्ञ में भाग लेकर हमें अनुग्रहीत किया है। 'श्रमण' के आगामी अंक में आगे होने वाली निबन्ध-प्रतियोगिता के लिए चयनित विषय की सूचना यथासमय दी जायेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजेताओं का परिचय

ग्रूप ए- प्रथम पुरस्कार विजेता

नाम : कु० नूतन सुरेशचन्द्र बाफना (आयु १६ वर्ष)

शिक्षा : हायर सेकेण्डरी

पत्रव्यवहार का पता : रसिकलालपटेलनगर, प्लाट नं० ५८, मु०पो० शिरपुर, जिला- धूलिया- महाराष्ट्र-४२५४०५

ग्रूप ए- द्वितीय पुरस्कार विजेता

नाम : कु० दीप्ति जैन पिराका (आयु १७ वर्ष)

पिता का नाम : श्री भँवरलाल जैन पिराका

शैक्षणिक योग्यता : बी०ए० में अध्ययनरत

पता : पिराका ट्रेडिंग कम्पनी, तबेला रोड, सीकर- राजस्थान, ३३२००१

ग्रूप ए- तृतीय पुरस्कार विजेता

नाम : श्री निलेश कुमार सोनगरा (आयु १८ वर्ष)

पिता का नाम : श्री रूपलाल सोनगरा

शैक्षणिक योग्यता : बी०ए० में अध्ययनरत

पता : पद्म कुटीर, सदर बाजार, साबा, जिला चित्तौड़गढ़, राजस्थान- ३१२ ६१३

ग्रूप बी- प्रथम पुरस्कार विजेता

नाम : कु० अर्चना श्रीवास्तव (आयु २५ वर्ष)

पिता का नाम : श्री मृत्युञ्जय लाल श्रीवास्तव

शिक्षां : एम०ए० (संस्कृत), पीएच्०डी०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पत्र-व्यवहार का पता : कु० अर्चना श्रीवास्तव
श्री मृत्युञ्जय लाल श्रीवास्तव, ठठेरीबाजार, रामनगर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रूप बी- द्वितीय पुरस्कार विजेता

नाम : श्री जेठमल जी चौरडिया (आयु ६६ वर्ष)

शिक्षा : हायर सेकेण्डरी, प्रथम श्रेणी

: कवर्धा के प्रतिष्ठित औषधि व्यवसायी, विभिन्न शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध।

पत्र-व्यवहार का पता : वसन्त मेडिकल स्टोर्स
महावीर स्वामी चौक, मेन रोड, कवर्धा, मध्य प्रदेश, ४९१ ९९५

ग्रूप बी- तृतीय पुरस्कार विजेता

नाम : श्रीमती उषा नाहर (आयु ३२ वर्ष)

पति का नाम : श्री के०एम० नाहर, अवकाशप्राप्त जिला शिक्षा अधिकारी, राजस्थान सरकार

शिक्षा : एम०ए० इतिहास एवं अंग्रेजी, उत्तम शैक्षणिक रिकार्ड के साथ, वर्तमान में लीलादेवी पारसमल सेठिया गर्ल्स कालेज, रानी, जिला पाली-राजस्थान में शिक्षिका

पत्र-व्यवहार का पता : १४४/४ बापूनगर, अजमेर, राजस्थान

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Results of The Essay Competition 1999-2000

Editors Note

We live in a time when people, especially young people in their formative years are constantly being pulled in all directions. In such circumstances, a lot of them end up being confused and disoriented. Often they have great difficulty in choosing a path. They lack and awareness of who they are and what they believe. With the family and cultural values eroding fast, they face an uphill task. Adults often do not support their efforts to be themselves.

The future of our community lies with the youth. Their future depends on their families, education, environment and the socio economic situation - in other words, the influences that they are exposed to as they grow-up through their formative years. All these can have a profound affect on their development of their sense of identity, personality beliefs and values - in short their "samskāra".

Jainism is one of the oldest living religions of the world. It has a rich spiritual, cultural and literary heritage to its credit. Jainism has served the humanity in more ways than simply being a religion followed by few. It has shown a holistic approach to how life should be lived. It has strongly espoused the basic principles of humanity and given a much deeper meaning to live and let live. Whereas other religions limit the practice to human beings, Jainism has encompassed every living form.

The principles of non-violence, non-possessiveness and anekāntavād - meaning that truth can be multi-dimensional - are some of the basic tenets of Jainism. Thus, Jainism can prove to be a boon to mankind. Jainism can contribute much towards solving the problems faced by the youth and the world alike in the 21st century.

Keeping this in view, and with a view to bring forth fresh ideas, Parshwanath Vidyapeeth and Harjas Rai Jain Public Charitable Trust, Delhi sponsored an all India Essay Competition as part of their

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ongoing commitment to the progressive development of Jainism.

The topic for the 1999-2000 Essay Cornpetition was-- *"Relevance of Jainism in the 21st Century".*

There were a total of 32 participants, '8' were in the age group of Under 18 years while '24' in the Over 18 years group. In all, 16 male and an equal number of females participated, strangely 4 each male and female participants were in the below 18 age group and 12 each male and female participants sent their entries in the over 18 years age group.

As advertised earlier, essays recived wefe duly condified and sent to the judges for marking-- Prof. Sagarmal Jain, Shajapur (M.P.), Prof. Sudarshan Lal Jain, Varanasi (U.P.) and Prof. Dharma Chand Jain, Jodhpur (Rajasthan) -- each one, an authority of Jainism.

On receiving back the marked essays, a merit list was prepared and accordingly, the result declared.

The following presons scured the first, second and third position in their respective groups.

Group 'A' -- Under 18 Years

1. Kumari Nutan S. Bafna	*Shirpur, Dhulia (Mah.)*	*Ist*
2. Kumari Deepti Jain Piraka	*Seekar (Rajasthan)*	*IInd*
3. Shri Nilesh Kr. Sonagara	*Sawa, Chittodgadh (Raj.)*	*IIIrd*

Group 'B' -- Over 18 Years

1. Kumari Archana Shrivastava	*Varanasi (U.P.)*	*Ist*
2. Shri Jethmal Chaurdia	*Kavardha (M.P.)*	*IInd*
3. Smt. Usha Nahar	*Ajmer (Raj.)*	*IIIrd*

The prize distribution ceremony will be held at Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, on the occassion of forth coming All India Seminar on 17-18 September 2000. In that ceremony the winners will be given value of their prizes in cash alongwith a Certificate showing their position in the competition.

With a view to encaurage the participants all the six winning

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

essays are being published in this issue of 'Śramaṇa' as supplement.

We are happy to say that this endevour could not have been completed without the inspiration of Shri Bhupendra Nath Jain, Secretary and Active Co-operation of Shri Indrabhooti Barar, Jt. Secretary Parshwanath Vidyapeeth. We are really thankful to them. In near future Parshwanath Vidyapeeth is going to organize an another Essay Competition. The details of the competition along with the topic will published in next issue of 'Śramaṇa'.

At last, on behalf of Parshwanath Vidyapeeth and Harjas Rai Jain Charitable Trust I extend my sincere thanks to the participants and congratulation to the winners.

Prof. Bhagchandra Jain

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-जगत्

प्राकृत भाषा एवं साहित्य : विकास की सम्भावनाएँ नामक संगोष्ठी सम्पन्न

वाराणसी २६ दिसम्बर : जैन विद्या के सुप्रसिद्ध विद्वान्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में जैन दर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ० फूलचन्द जी जैन 'प्रेमी' के संयोजकत्त्व में शारदानगर, वाराणसी स्थित उनकी भव्य कोठी 'अनेकान्त भवनम्' में दिनांक २६ दिसम्बर १९९९ को **इक्कीसवीं शती में प्राकृत भाषा और साहित्य : विकास की सम्भावनायें** नामक एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। प्राकृत भाषा के विख्यात् विद्वान् प्रो० भोलाशंकर व्यास ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। इस संगोष्ठी में प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा, डॉ० कमलेशकुमार जैन, श्री शरद कुमार साधक, डॉ० हृदय रंजन शर्मा, डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा आदि विभिन्न विद्वान् और बड़ी संख्या में प्राकृत भाषा प्रेमी सज्जन उपस्थित थे।

पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक महोत्सव सम्पन्न

हरिद्वार ३ जनवरी : भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म कल्याणक के शुभ अवसर पर चिन्तामणि पार्श्वनाथ तीर्थ, हरिद्वार में दिनांक ३१ दिसम्बर से २ जनवरी तक अभिषेक, स्नात्रपूजन, पंचकल्याणकपूजन, संध्याभक्ति आदि भव्य कार्यक्रम पूज्य मुनिराज श्रीजम्बूविजय जी की पावन निश्रा में सानन्द सम्पन्न हुआ। ज्ञातव्य है कि इसी तीर्थ पर श्रीजम्बूविजय जी महाराज द्वारा ३ दिसम्बर को कु० ऊषा की भागवती दीक्षा भी सम्पन्न की गयी।

त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

जयपुर २४ जनवरी : पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ जन्म शताब्दी समारोह के अन्तर्गत त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी दिनांक २१.१.२००० से २४.१.२००० तक जयुपर में आचार्यश्री वर्धमानसागर जी महाराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। इस संगोष्ठी में कुल छह सत्र हुए। इनमें विभिन्न वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त करने के साथ-साथ अपने शोधलेखों का भी वाचन किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' भी इस संगोष्ठी में आमन्त्रित थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहमदाबाद ३१ जनवरी : नवीन इस्टिट्यूट ऑफ सेल्फ डेवलपमेन्ट, अहमदाबाद एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित *Multi Dimensional Application of Anekāntvāda* नामक पुस्तक का लोकार्पण समारोह एवं अनेकान्तवाद पर एक संगोष्ठी का उक्त दोनों संस्थाओं द्वारा ३१ जनवरी को अहमदाबाद में आयोजन किया गया। इस अवसर पर निरमा एज्युकेशन एण्ड रिसर्च फाउन्डेशन के प्रो० एन०वी० वासानी मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। इस संगोष्ठी में प्रमुख वक्ता के रूप में पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मार्गदर्शक एवं विश्वविश्रुत विद्वान् प्रो० सागरमल जी जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर', विद्यापीठ के प्रशासनिक अधिकारी, युवा विद्वान् डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय विशेष रूप से आमन्त्रित थे। संगोष्ठी में उपस्थित अन्य वक्ताओं में श्री चन्द्रहास त्रिवेदी, पूर्व न्यायाधीश श्री टी०यू० मेहता, श्री एन०के० शाह आदि ने भी अपने विचारों को बड़े ही प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया।

भगवान् ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय महामहोत्सव का उद्घाटन एवं ऋषभदेव जैन मेला सानन्द सम्पन्न

नई दिल्ली १० फरवरी : आर्यिका शिरोमणि श्री ज्ञानमती माता जी के पावन सान्निध्य में दिनांक ४ फरवरी २००० माघ वदि चतुर्दशी को माननीय प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने ऐतिहासिक लाल किला मैदान में भगवान् ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय महामहोत्सव का उद्घाटन किया। १० फरवरी तक चले विभिन्न कार्यक्रमों में ७२ रत्न प्रतिमाओं का पंचकल्याणक महोत्सव, महामस्तकाभिषेक आदि प्रमुख थे। इस अवसर पर माननीय प्रधानमन्त्री जी ने राष्ट्र के नाम सन्देश भी दिया। इस कार्यक्रम में दि० जैन समाज के सभी शीर्षस्थ पदाधिकारी उपस्थित थे।

छपरौली में भागवती दीक्षा सम्पन्न

छपरौली १० फरवरी : पूज्य श्री जोगराज जी म०सा०, श्री अमृतमुनि जी म०सा०, श्रीविजयमुनि जी म०सा०, महासती श्री शुभमती जी एवं विजयप्रभा जी म०सा० की पावन निश्रा में १० फरवरी को वसन्तपञ्चमी के पावन पर्व पर बालब्रह्मचारिणी वैरागन कु० शालू जैन की भागवती दीक्षा का भव्य कार्यक्रम छपरौली, उत्तर प्रदेश में सम्पन्न हुआ।

जैन विद्या व्याख्यानमाला सम्पन्न

अहमदाबाद २६ फरवरी : अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या अध्ययन केन्द्र, गुजरात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यापीठ, अहमदाबाद में ५ फरवरी २००० को डॉ० कुमारपाल देसाई द्वारा **अध्यात्म एवं धर्म : नया समीकरण** एवं २६ फरवरी २००० को डॉ० चिनुभाई नायक द्वारा **बौद्ध एवं जैन धर्म का भारतीय संस्कृति में योगदान** नामक विषय पर व्याख्यान सम्पन्न हुआ।

सूरिपद प्राप्ति महोत्सव सम्पन्न

मुम्बई ३ मार्च : अंचलगच्छाधिपति आचार्य श्री गुणोदयसागर सूरि जी महाराज के शुभाशीष से आचार्य श्री कलाप्रभसागरसूरि जी महाराज की पावन निश्रा में उनके सूरि पद प्राप्ति के १२वें वर्ष में प्रवेश तथा उन्हीं के द्वारा दूसरी बार किये जा रहे सूरिमन्त्र आराधना के उद्यापन के शुभ अवसर पर कच्छी जैन समाज द्वारा मुम्बई में आयोजित भव्य कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हुआ।

गुरु मन्दिर का भूमिपूजन एवं शिलान्यास समारोह सम्पन्न

हरिद्वार १२ मार्च : आचार्य श्रीविजयनित्यानन्द जी महाराज एवं मुनिराज श्री जम्बू विजयजी महाराज की पावन निश्रा में पंजाब केशरी आचार्य श्री विजयानन्दसूरि जी महाराज (आत्माराम जी महाराज) के भव्य स्मारक का भूमिपूजन एवं शिलान्यास हरिद्वार, उत्तर प्रदेश में दिनांक १२ मार्च को सानन्द सम्पन्न हुआ। यह निर्माण कार्य लुधियाना, पंजाब निवासी लाला रोशनलाल जी द्वारा अपने पूज्य पिता स्व० श्री लाला हंसराज जी जैन की पुण्य स्मृति में सम्पन्न कराया जा रहा है।

दिनांक १३ मार्च को आचार्यश्री की निश्रा में मोतीलाल बनारसीदास परिवार की ओर से स्व० श्री शांतिलाल जी जैन की पुण्य स्मृति में ब्रह्मचर्यव्रत महापूजन एवं नवकारसी का आयोजन किया गया। दिनांक १४ मार्च को आचार्य श्री द्वारा मांगलिक स्तोत्रों का पाठ किया गया जिसमें बड़ी संख्या में देश के विभिन्न भागों से पधारे हुए गुरुभक्तों ने भाग लिया।

महावीर इण्टरनेशनल सिल्वर जुबली हास्टल की स्थापना

दिल्ली १९ मार्च : महावीर इण्टरनेशनल के दिल्ली केन्द्र द्वारा कुतुबरोड, दिल्ली में एक हास्टल की स्थापना की गयी है जिसमें देश के किसी भाग से दिल्ली आकर आई०ए०एस०, आई०पी०एस० आदि प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु कोचिंग लेने वाले जैन विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जायेगा। प्रारम्भ में यहाँ केवल १८ छात्रों के रहने की व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक विद्यार्थी को दोनों समय भोजन, जलपान, पुस्तकालय, वाचनालय, बेड आदि की सुविधा मात्र २ हजार रुपये प्रतिमाह में यहाँ दी जायेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर का पुरस्कार समर्पण समारोह

इन्दौर २९ मार्च : देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्य शोध केन्द्र कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर का वार्षिक पुरस्कार समर्पण समारोह विगत २९ मार्च को ज्ञानपीठ के परिसर में ऋषभदेव जयन्ती के अवसर पर उपा० मुनिश्री जिनानन्द सागर जी की पावन निश्रा में सम्पन्न हुआ। इस समारोह में विक्रम विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो० आर०आर० नांदगांवकर, मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय की इन्दौर खण्डपीठ के न्यायमूर्ति श्री एन०के०जैन, प्रो० ए०ए०अब्बासी, श्री बाबूलाल जी पाटोदी, श्री हीरालाल झांझरी, पूर्व राजदूत डॉ० एन०पी०जैन, सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर के अध्यक्ष श्री हीरालाल जैन आदि विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे।

वर्ष १९९८ में **अर्हत्वचन** में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ आलेखों पर डॉ० अशोक मिश्र एवं श्री दीपक जाधव को अर्हत्वचन-९८ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसी प्रकार रामकथा संग्रहालय, अयोध्या के पूर्व निदेशक डॉ० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी को उनकी कृति **जैनधर्म कला प्राण भगवान् ऋषभदेव** पर ज्ञानोदय पुरस्कार प्रदान किया गया। इसी क्रम में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ-९८ पुरस्कार बिरला प्रौद्योगिक संस्थान, रांची के पूर्व प्राध्यापक प्रो० राधाचरण गुप्त को उनकी कृति **जैन गणित** पर प्रदान किया गया। इस अवसर पर प्रकाशित जैन साहित्य पाण्डुलिपि सूचीकरण परियोजना के अन्तर्गत अब तक कॉम्प्यूटर में फीड किये जा चुके १४००० प्रकाशित पुस्तकों एवं ८००० पाण्डुलिपियों के विवरणों के सुसम्पादित और संशोधित प्रिन्टआउट्स का भी विमोचन किया गया।

भगवान् महावीर की २६००वीं जयन्ती पर वर्षव्यापी कार्यक्रमों का भव्य शुभारम्भ

भगवान् महावीर की २६००वीं जयन्ती के शुभ अवसर पर दिनांक १६ अप्रैल को कलकत्ता स्थित नेताजी इनडोर स्टेडियम में पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री वीरेन शाह की अध्यक्षता में एक वर्षपर्यन्त चलने वाले भव्य कार्यक्रम का शुभारम्भ किया गया। केन्द्रीय संचार मंत्री श्री तपन सिकदर इस कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। समारोह समिति के मन्त्री श्री सरदारमल जी कांकरिया ने मान्य अतिथियों एवं सभा में उपस्थित जनसमूह का भावभीना स्वागत किया। इस अवसर पर सभी गणमान्य अतिथियों को समिति की ओर से नवकारमन्त्र उत्कीर्ण स्वर्णमण्डित स्मृतिचिन्ह भी प्रदान किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

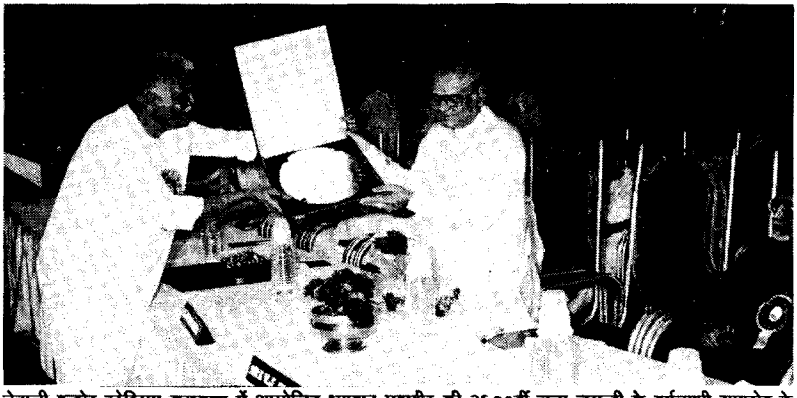

नेताजी इन्डोर स्टेडियम कलकत्ता में आयोजित भगवान् महावीर की २६००वीं जन्म जयन्ती के वर्षव्यापी समारोह के शुभारम्भ के अवसर पर मुख्य अतिथि श्री तपन सिकदर संचार राज्य मन्त्री, भारत सरकार को समिति की ओर से नवकार मन्त्र उत्कीर्ण स्वर्णमण्डित पट्टिका स्मृति चिन्ह भेंट करते हुए। पश्चिम बंगाल के महामहिम राज्यपाल श्री वीरेन शाह समारोह की अध्यक्षता कर रहे हैं।

प्रधानाचार्य पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज स्मृति दिवस समारोह सम्पन्न

अमृतसर ३० अप्रैल : पार्श्वनाथ विद्यापीठ तथा अन्यान्य शिक्षण संस्थाओं के निर्माण के प्रेरक आचार्यरत्न पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज का स्मृति दिवस रविवार दिनांक ३० अप्रैल को अमृतसर स्थित गुरुनानकभवन के विशाल सभाकक्ष में युवामनीषी श्री सुभाष मुनि एवं साध्वी डॉ० अर्चना जी की पावन निश्रा में धूमधाम से मनाया गया। श्री मनीष जैन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए इस समारोह में पंजाब के मुख्यमन्त्री माननीय श्री प्रकाश सिंह बादल मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। श्री बादल ने अपने विस्तृत भाषण में कहा कि इस देश की पावन धरा पर समय-समय पर विभिन्न महान् हस्तियों ने जन्म लिया और अपने अनुभव, ज्ञान एवं सच्चाई के मार्ग पर चलने की इच्छा-शक्ति के बल पर मानव जाति का कल्याण किया है। ऐसे महान् पुरुषों में आचार्यश्री सोहनलाल जी महाराज का स्थान अग्रगण्य है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन अहिंसा और मानवता की सेवा में अर्पित कर दिया। इस अवसर पर उन्होंने प्रस्तावित सोहनलाल जैन स्मारक के निर्माण हेतु भूमि शीघ्र उपलब्ध कराने का भी आश्वासन दिया।

साध्वीश्री अर्चना जी एवं श्री सुभाष मुनि जी ने अपने उद्बोधन में आचार्यश्री के जीवन के विभिन्न प्रसङ्गों का स्मरण किया। स्मारक के निर्माण हेतु श्री प्रकाश चन्द्र जी जैन, दुबई वालों ने २१ लाख रुपये देने की घोषणा की। इसी प्रकार श्री मोहन लाल जी सेठी ने भी उक्त कार्य हेतु ५ लाख रुपये देने की बात कही। समारोह में उपस्थित अन्य प्रमुख लोगों ने भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग देने का वचन देते हुए ९ लाख रुपये देना स्वीकार किया। आगन्तुक अतिथियों के भोजन आदि की व्यवस्था श्री मंगतराम जैन, प्रमुख, स्मारक समिति अमृतसर की ओर से की गयी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के केवल-ज्ञान कल्याणक, संघ स्थापना व संक्रान्ति महोत्सव के अवसर पर पूज्यश्री सोहनलाल जी महाराज स्मारक स्थल मालमंडी, अमृतसर में वैशाख शुक्ल एकादशी को एक भव्य कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें पंजाब के स्थानीय निकाय मन्त्री श्री बलराम दास जी टंडन मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। इस अवसर पर उन्होंने **युगद्रष्टा युगपुरुष प्रधानाचार्य श्री** नामक पुस्तक का लोकार्पण भी किया।

वर्षीतप पाराणा महोत्सव सम्पन्न

जोधपुर ६ मई : खरतरगच्छीय गणिवर श्री महिमाप्रभसागर जी महाराज, महो० श्री ललितप्रभसागर जी महाराज एवं श्री चन्द्रप्रभसागर जी महाराज के पावन सान्निध्य में सम्बोधिधाम, जोधपुर में दिनांक ४-६ मई को वर्षीतप पारणा महोत्सव का आयोजन किया गया। इस अवसर पर श्री भक्तामर महापूजन, श्री पार्श्वपद्मावती महापूजन, अठारह अभिषेक महापूजन एवं तपस्वी अभिनन्दन आदि कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हुए।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ (इन्दौर) को शोधकेन्द्र की मान्यता प्राप्त

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि पार्श्वनाथ विद्यापीठ (इन्दौर परिसर) को देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर से पी-एच०डी० के लिये शोध केन्द्र के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी है। किसी भी विश्वविद्यालय से एम०ए० करने के उपरान्त कोई भी श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी या अन्य यहाँ से पी-एच०डी० के लिये प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ पर शोध हेतु निर्देशक एवं पुस्तकालय आदि की पूर्ण व्यवस्था है। इच्छुक शोधार्थी निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें—

१. निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
एफ-११, रतलाम कोठी,
इन्दौर-४५२००३,
मध्य प्रदेश

२. श्री एन०एन० जैन
संरक्षक—पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
(इन्दौर परिसर) C/o प्रेस्टीज
३०, जावरा कम्पाउन्ड
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

यू०जी०सी० के 'नेट' एवं 'जे०आर०एफ०' पाठ्यक्रमों में 'प्राकृत-विषय' पुनः प्रारम्भ

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू०जी०सी०) में 'व्याख्याता-पद की आर्हता' (N.E.T.) तथा 'जूनियर शोध अध्येतावृत्ति परीक्षा' (J.R.F.) के पाठ्यक्रमों में **प्राकृतभाषा** एक स्वतन्त्र-विषय के रूप में स्वीकृत थी। गत वर्ष इसे किन्हीं कारणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से हटा दिया गया था, जिससे 'प्राकृतभाषा' पढ़ने वालों के भविष्य के प्रति प्रश्नचिह्न लग गया था। चारों ओर से इस निर्णय के विरोध में आवाजें उठीं और अन्ततः डॉ० मण्डन मिश्र के सार्थक प्रयत्नों से यू०जी०सी० द्वारा पुनः **प्राकृतभाषा** को स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्रदान कर दी गयी।

जैन सिद्धान्त भवन का ९७वां स्थापना दिवस सोल्लास सम्पन्न

आरा : पिछले दिनो श्रुतपञ्चमी के पावन पर्व पर सर्वप्राचीन जैन संस्थान **जैन सिद्धान्त भवन** का ९७वां स्थापना दिवस पूज्य आचार्य श्री कुशाग्रनन्दी जी महाराज के पावन सान्निध्य में सोल्लास मनाया गया। इसी प्रकार श्री जैन बालाविश्राम के प्राङ्गण में प्रतिष्ठापित भगवान् ऋषभदेव के मानस्तम्भ का ५० वर्षों बाद पिछले दिनों महामस्तकाभिषेक भी सम्पन्न हुआ।

श्री उमरावमलजी चौरडिया अध्यक्ष निर्वाचित

जयपुर २८ मई : रविवार दिनांक २८ मई को जयपुर में सम्पन्न हुए चुनाव में सर्वसम्मति से श्री उमरावमल जी चौरड़िया अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स की राजस्थन शाखा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। विद्यापीठ परिवार की ओर से श्री चौरड़िया को हार्दिक बधाई।

श्रमदान

उपाध्याय श्री जिनानन्द सागर जी महाराज के पावन सान्निध्य एवं दिगम्बर जैन सोशल ग्रूप फेडरेशन के तत्त्वावधान में पिछले दिनों अतिशय दिगम्बर तीर्थ क्षेत्र सिद्धवरकूट के १८ किलोमीटर लम्बे मार्ग के जीर्णोद्धार हेतु बड़ी संख्या में लोगों ने कार सेवा की। इस अवसर पर क्षेत्रीय सांसद द्वारा मार्ग के जीर्णोद्धार हेतु ९ लाख रुपये देने की भी घोषणा की गयी।

पाण्डुलिपि और पुरालिपि सम्बन्धी कार्यशाला सम्पन्न

दिल्ली २ जुलाई : विजयवल्लभ स्मारक (जैन मन्दिर संकुल) परिसर स्थित भोगीलाल लहेरचन्द इंस्टिट्यूट ऑफ इण्डोलाजी द्वारा आयोजित १५ दिवसीय पाण्डुलिपि और पुरालिपि सम्बन्धी कार्यशाला का समापन समारोह दिनांक २ जुलाई को आयोजित किया गया। राष्ट्रीय अभिलेखागार नई दिल्ली के निदेशक प्रो० एस० सरकार इस कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के निदेशक प्रो० आर०डी० चौधरी ने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पी-एच्०डी० उपाधि प्राप्त

आचार्य विमलसूरिकृत पउमचरियं का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन नामक शोधप्रबन्ध पर श्री सुरेन्द्रकुमार जैन को जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर-मध्यप्रदेश द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि प्रदान की गयी। यह शोधकार्य डॉ० लक्ष्मी शुक्ला के निर्देशन में पूर्ण किया गया।

पुरस्कार

प्राचीन पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण, संकलन व संरक्षण तथा सूचीकरण एवं सुरक्षा के लिये किये जा रहे उत्कृष्ट कार्य के लिये अनेकान्त ज्ञानपीठ, बीना-मध्यप्रदेश को श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर द्वारा **पूज्य शशिभाई स्मृति जिनवाणी संरक्षण पुरस्कार-१९९९** प्रदान करने की घोषणा की गयी है।

भगवान् महावीर फाउन्डेशन, चेन्नई द्वारा वर्ष २००० का महावीर पुरस्कार अहिंसा व शाकाहार के प्रचार के लिये डॉ० कल्याण मोतीलाल, पुणे (महाराष्ट्र) तथा शिक्षा एवं चिकित्सा के लिए कैन्सर अस्पताल, चेन्नई और पूर्वोत्तर भारत में स्थित त्रिपुरा राज्य के अगरतला में लोक सेवा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य करने हेतु श्रीमती अनुरुपमा मुखर्जी को प्रदान करने की घोषणा की गयी है। पुरस्कार प्राप्तकर्ता व्यक्ति या संस्थान को ५ लाख रुपये नकद, प्रशस्तिपत्र, प्रतीक चिन्ह, श्रीफल आदि से सम्मानित किया जाता है।

अहिंसा इण्टरनेशनल के वर्ष १९९९ के पुरस्कार घोषित किये गये हैं जिसके अनुसार डॉ० के०आर०चन्द्रा को अहिंसा इण्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वरलाल जैन साहित्य पुरस्कार; सुश्री डॉ० अर्चना जैन को भगवानदास शोभालाल जैन पुरस्कार, कुमारी रश्मि शर्मा को रघुवीरसिंह जैन जीवरक्षा पुरस्कार एवं डॉ० अनुपम जैन को प्रेमचन्द जैन पत्रकारिता पुरस्कार के लिये चयनित किया गया है।

श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी की ओर से अपने संस्थापक पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी की स्मृति में वर्ष २००० के पुरस्कार के लिये जैन धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य, समाज, संस्कृति, भाषा एवं इतिहास विषयक मौलिक, सृजनात्मक और अनुसंधानात्मक शास्त्रीय परम्परायुक्त कृति पर पुरस्कारार्थ ४ प्रतियाँ दिसम्बर २००० तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में ५००१/- रुपया नकद तथा प्रशस्ति-पत्र दिया जायेगा। १९९७ के बाद की प्रकाशित पुस्तकें भी इसमें सम्मिलित की जा सकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। नियमावली निम्न पते पर उपलब्ध है।

डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी',
संयोजक, श्री वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार समिति,
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी

उपाध्याय ज्ञानसागर श्रुतसंवर्द्धन पुरस्कार-२००० हेतु प्रविष्टियाँ आमन्त्रित

सराकोद्धारक संत उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा जैन संस्कृति के संरक्षण में दिये जा रहे अभूतपूर्व योगदान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु श्रुत संवर्धन संस्थान, मेरठ द्वारा **उपाध्याय ज्ञानसागर श्रुतसंवर्धन पुरस्कार** की स्थापना की गयी है जिसके अन्तर्गत जैन साहित्य, संस्कृति अथवा समाज के संरक्षण/विकास आदि में उत्कृष्ट योगदान देने वाले व्यक्ति अथवा संस्था को एक लाख रुपये नकद, प्रशस्तिपत्र एवं स्मृतिचिन्ह से सम्मानित किया जायेगा। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण हेतु इस पते पर सम्पर्क करें— डॉ० अनुपम जैन, संयोजक— पुरस्कार समिति, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, ५८४, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर ४५२००१, मध्यप्रदेश।

पत्राचार प्राकृत पाठ्यक्रम

अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर की ओर से **पत्राचार प्राकृत सर्टीफिकेट पाठ्यक्रम** का द्वितीय सत्र १ जुलाई २००० से आरम्भ होने जा रहा है।

भेंट

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के ट्रस्टी, विख्यात् समाजसेवी श्री भंवरलाल जी कर्णावट की स्मृति में उनके परिवार की ओर से **श्रमण** को १५०/- रुपये भेंट किये गये।

वयोवृद्ध विचारक एवं सुप्रसिद्ध लेखक श्री राजमल पवैया के पौत्र एवं श्री भरत पवैया के पुत्र श्री नगेन्द्र के शुभ विवाह के अवसर पर **श्रमण** को पच्चीस रुपये भेंट किये गये।

निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर का आयोजन

श्री भंवरलाल झंवरलाल कोठारी एवं श्री जैन हास्पिटल एण्ड रिसर्च सेन्टर, हावड़ा के संयुक्त तत्त्वावधान में पिछले दिनों श्वेताम्बर जैन कोठी, सम्मेतशिखर में निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर का आयोजन किया गया जिसमें ८५० नेत्र रोगियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीक्षण कर उनकी चिकित्सा की गयी। ६७२ रोगियों को निःशुल्क चश्मे प्रदान किये गये तथा १३८ नेत्र रोगियों की माइक्रोशल्य चिकित्सा की गयी।

अभिनन्दन

श्री शोभित जैन, इन्दौर; श्री संजय जैन, दिल्ली; श्री राजीव जैन, दिल्ली; श्री मनोज जैन, कोटा; श्री अमित चौधरी, दमोह; श्री वैभव बजाज, दमोह एवं श्री राजेश जैन वर्ष १९९९-२००० की संघ लोक सेवा आयोग परीक्षा में चयनित हुए हैं। विद्यापीठ परिवार की ओर से उक्त युवा प्रतिभाओं का हार्दिक अभिनन्दन।

आचार्य देवेन्द्रमुनि के जीवन पर वेबसाइट तैयार

श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर स्व० आचार्य श्रीदेवेन्द्रमुनि जी शास्त्री के जीवन पर श्री राजेन्द्रमुनि एवं श्री सुरेन्द्रमुनि जी की प्रेरणा से हिन्दी भाषा में एक वेबसाइट तैयार किया गया है जिसे इण्टरनेट पर देखा जा सकता है।

आचार्य शिवमुनि जी ठाणा-११ चातुर्मासार्थ सूरत में

सूरत श्रीसंघ के प्रबल पुण्योदय से श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य शिवमुनि जी महाराज, तपोकेशरी श्री अजयमुनि जी महाराज ठाणा-११ का इस वर्ष का चातुर्मास गुजरात, प्रान्त के प्रमुख औद्योगिक नगर सूरत में होना निश्चित हुआ है। दिनांक ९ जुलाई रविवार को आचार्यश्री के नगर में मंगल प्रवेश के अवसर पर सूरत श्रीसंघ द्वारा उनका भव्य स्वागत किया गया। चातुर्मास की अवधि में यहाँ आचार्यश्री के पावन सान्निध्य में विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम सम्पन्न होंगे। इसी अवधि में यहाँ प्रत्येक माह में दो बार त्रिदिवसीय ध्यानशिविर का भी आयोजन किया जा रहा है।

राजेन्द्रमुनि ठाणा-६ का चातुर्मास माउण्ट आबू पर

श्रमण संघ के उपप्रवर्तक श्री राजेन्द्रमुनि एवं पण्डितरत्न श्री रमेश मुनि ठाणा-६ का वर्ष २००० का चातुर्मास आबू पर्वत पर निश्चित हुआ है। चातुर्मास स्थल का पता— श्री राजेन्द्रकुमार अग्रवाल, योग साधना अनुसन्धान केन्द्र, कुम्हारवाड़ा, पो० माउण्ट आबू, जिला— सिरोही, राजस्थान।

वाराणसी में अंजनशलाका-प्रतिष्ठा महोत्सव

वाराणसी स्थित भगवान् पार्श्वनाथ श्वेताम्बर जन्मभूमि परिसर में नवनिर्मित जिनालय में भगवान् पार्श्वनाथ का अंजनशलाका-प्रतिष्ठा महोत्सव दिनांक १७ नवम्बर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२००० को सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री राजयशसूरि जी महाराज के पावन सान्निध्य में सम्पन्न होने जा रहा है। प्रतिष्ठा महोत्सव दिनांक ६ नवम्बर दिन सोमवार से प्रारम्भ होकर १९ नवम्बर रविवार तक चलेगा जिसमें देश-विदेश के श्रद्धालुजन बड़ी संख्या में भाग लेंगे।

शोक समाचार

जैन दर्शन एवं न्याय के उद्भट विद्वान् डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया का ३ जनवरी को बीना में देहान्त हो गया। साहित्य सेवा के क्षेत्र में कोठिया जी के अवदान से समाज भली-भाँति परिचित है। विद्यापीठ की ओर से स्व० कोठिया जी को हार्दिक श्रद्धांजलि।

●

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रथम अध्यक्ष स्व० लाला त्रिभुवननाथ जैन (कपूरथला) की धर्मपत्नी श्रीमती तारादेवी जैन का पिछले दिनों ९४वर्ष की आयु में निधन हो गया। श्रीमती जैन एक अत्यन्त धर्मपरायण और सादगीपसन्द महिला थीं। पिछले १० वर्षों से उन्होंने अपना सारा समय पूजा-प्रार्थना आदि में लगा दिया था। आप अपने पीछे भरा-पूरा विस्तृत परिवार छोड़ गयी हैं। उनके पुत्र श्री जतीन्दरनाथ जैन, पौत्र श्री रविन्दरनाथ जैन एवं श्री मोहिन्दरनाथ जैन भी अपने माता-पिता के पदचिन्हों पर चल रहे हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार दिवंगत आत्मा को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

●

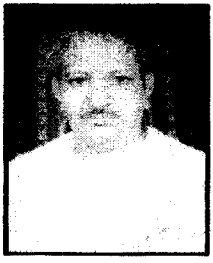

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के ट्रस्टी एवं श्री जैन हास्पिटल एण्ड रिसर्च सेन्टर, हावड़ा की प्रशासनिक समिति के उपाध्यक्ष, विख्यात समाजसेवी श्री भँवरलाल जी कर्णावट का २५ अप्रैल को मद्रास में असामयिक निधन हो गया। २६ अप्रैल को श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभागार, सुकियस लेन, कलकत्ता में आयोजित एक शोकसभा के माध्यम से उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी जिसमें जैन समाज के सभी वर्ग/सम्प्रदाय के लोगों ने भाग लिया। विद्यापीठ परिवार की ओरसे श्री कर्णावट जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

●

श्री सुशील कुमार बम के २३ वर्षीय सुपुत्र श्री सिद्धार्थ बम का पिछले दिनों मद्रास में निधन हो गया। आप पिछले कुछ समय से कैंसर जैसे असाध्य रोग से पीड़ित थे। विद्यापीठ परिवार श्री सिद्धार्थ बम को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरपुत्र आचार्य जिनआनन्दसागर सूरि के शिष्य एवं आचार्य जिनउदयसागर सूरि के पट्टधर, खरतरगच्छाधिपति आचार्य श्री जिनमहोदयसागर सूरि का दिनांक २६ मई को प्रातःकाल ६ बजे मलकापुर, जिला बुलडाना, महाराष्ट्र में हृदयगति बन्द हो जाने से निधन हो गया। आचार्यश्री के देहान्त से न केवल खरतरगच्छ अपितु सम्पूर्ण श्वेताम्बर जैन समाज की अपूरणीय क्षति हुई । पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से आचार्यश्री को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

●

सुप्रसिद्ध समाजसेवी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व व्यवस्थापक श्री शान्तिभाई बनमाली शेठ का ११ जुलाई को बैंगलोर में निधन हो गया। विद्यापीठ परिवार की ओर से श्री शान्तिभाई को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य सत्कार

चन्द्रलेखाविजयप्रकरण, कर्त्ता— पूर्णतलगच्छीय मुनि देवचन्द्र, सम्पा०— मुनि प्रद्युम्नविजयगणि; प्रकाशक— शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, शाहीबाग, अहमदाबाद ३८०००४, प्रथम संस्करण १९९५ ई०, आकार— डिमाई, सजिल्द, पृष्ठ ३४+११३, मूल्य ५०/- रुपये।

प्रस्तुत कृति **चन्द्रलेखाविजयप्रकरण** के रचनाकार मुनि देवचन्द्र जी कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि के शिष्यों में से एक थे। १२वीं शताब्दी में संस्कृत भाषा में निबद्ध इस नाटक की एकमात्र प्रति जैसलमेर ज्ञान भण्डार से प्राप्त हुई है। यह प्रति चूँकि अशुद्धि से भरी हुई थी अत: इसका संशोधन और सम्पादन भी एक दुरूह कार्य था। तपागच्छीय आचार्य विजयदेवसूरि के प्रशिष्य और आचार्य विजय हेमचन्द्रसूरि के शिष्य मुनि प्रद्युम्नविजयगणि ने अत्यन्त परिश्रम से सफलतापूर्वक उक्त कृति का सम्पादन कर विद्वत् जगत पर महान् उपकार किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मुनिश्री जम्बूविजय जी और डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भयाणी द्वारा लिखित दो शब्द तथा ग्रन्थ सम्पादक द्वारा लिखी गयी प्रस्तावना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की भूमिका के अन्तर्गत ८ पृष्ठों में विद्वान् सम्पादक ने प्रति परिचय, ग्रन्थकार और ग्रन्थ का परिचय दिया है। इसके पश्चात् १०० पृष्ठों में नाटक के पाँचों अंक दिये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में ५ परिशिष्ट भी दिये गये हैं। ग्रन्थ की साज-सज्जा आकर्षक व मुद्रण सुस्पष्ट है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य पर शोध करने वाले विद्वानों और शोधार्थियों के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। ऐसे दुर्लभ, प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन और प्रकाशन के लिये सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं।

नगरकोट-कांगड़ा महातीर्थ, लेखक-सम्पादक— श्री भँवरलाल नाहटा, प्रकाशक— श्री सोहन लाल कोचर, ८६, कैनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००१; प्रथम संस्करण वि०सं० २०४८, आकार— डिमाई, पृष्ठ ८+१३८+९ चित्र; मूल्य— २५/- रुपये मात्र।

जनश्रुत्यानुसार हिमालय की गोद में बसे जैनतीर्थ नगरकोट की स्थापना महाभारतकालीन राजा सुशर्मसेन ने की थी और इसका नाम सुशर्मपुर रखा था। दुर्गम पहाड़ी क्षेत्र होने से यह स्थान बहुत लम्बे समय तक बाहरी आक्रमणों से मुक्त रहा। महमूद गजनवी के समय यह क्षेत्र त्रिगर्त देश के अन्तर्गत माना जाता रहा। ई० सन् की ११वीं शती से लेकर १८वीं शती तक यह नगर समय-समय पर विभिन्न देशी-विदेशी शासकों द्वारा लूटा और नष्ट किया जाता रहा। अपने वैभव के समय यहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक जैन मन्दिर शोभायमान थे। राजनैतिक अस्थिरता के कारण यहाँ के जैन मतावलम्बी बड़ी संख्या में अन्यत्र जाकर बस गये तथा जो बचे थे उन्होंने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया और यह नगर पूर्णरूपेण जैन मतावलम्बियों से शून्य हो गया।

वि०सं० १४८४ में खरतरगच्छीय मुनि जयसागर उपाध्याय द्वारा प्रणीत **विज्ञप्तिलेख** (मुनि जिनविजय ने सम्पादित कर ई० सन् १९१६ में आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर से प्रकाशित कराया) के आधार पर इसी शती के प्रारम्भ में इस तीर्थ की खोज की गयी। जैन मुनिजनों का यहाँ आगमन हुआ और यहाँ जिन मन्दिरादि का निर्माण कर इसे पुनः प्राचीन गौरव प्रदान करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, जो सराहनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक स्वनामधन्य श्री भँवरलाल जी नाहटा हैं। उनके द्वारा पिछले सात दशकों से की जा रही साहित्यसेवा से पूरा विश्व उनके समक्ष विनयानवत् है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने प्राचीन जैन ग्रन्थों में उल्लिखित इस तीर्थ के विवरण को बड़े ही प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत कर विद्वानों के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया है। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण निर्दोष है। ऐसे उपयोगी पुस्तक को अल्प मूल्य में उपलब्ध कराकर प्रकाशक संस्था ने जैन समाज पर महान् उपकार किया है।

मिले मन भीतर भगवान् लेखक— श्री विजयकलापूर्णसूरि जी महाराज, हिन्दी अनुवादक— महो० श्री विनयसागर एवं श्री नैनमल विनयचन्द्र सुराणा; प्रकाशक— श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४१० (उत्तर प्रदेश); आकार—डिमाई; पृष्ठ १७+२३५, संशोधित आवृत्ति १९९९ ई०, मूल्य ७५/- रुपये मात्र।

आत्मा आनन्दमय, ज्ञानमय और सुखमय है, किन्तु वह भ्रान्तिवश अथवा यह कहें कि कर्मों में बंधे होने से भवभ्रमण करती रहती है जिसकी मुक्ति प्रभु की भक्ति से ही सम्भव है। भक्ति ही वह मार्ग है जो जीव को मुक्ति के प्रासाद में पहुँचा देती है। भक्ति किस प्रकार की जाये? भक्ति कितने प्रकार की होती है? भक्ति के माध्यम से भक्त किस प्रकार भगवान् बन सकता है? नेत्रों से अगोचर प्रभु का दर्शन मन के भीतर किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रकार के विभिन्न विषयों के रहस्य को इस पुस्तक में शास्त्रसम्मत विधि से स्पष्ट किया गया है। प्रारम्भ में यह पुस्तक गुजराती भाषा में प्रकाशित हुई थी, जो अत्यधिक लोकप्रिय हुई। हिन्दी भाषा-भाषी भी इससे लाभान्वित हों, इस दृष्टि से इसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित किया गया है। वस्तुतः यह पुस्तक प्रत्येक जैन परिवार में पठनीय और सभी के मनन योग्य है। ऐसे सुन्दर प्रकाशन का सर्वत्र आदर होगा, इसमें सन्देह नहीं। पुस्तक की साज-सज्जा नयनाभिराम व मुद्रण अत्यन्त सुस्पष्ट एवं सुन्दर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीविजयरामचन्द्रसूरि गुणस्तुतिमाला सम्पा० मुनिश्री मोक्षरतिविजय; प्रकाशक— श्री सुबोध चन्द्र नानालाल शाह, १२, देवश्रुति अपार्टमेन्ट, २३, सरस्वती सोसायटी, पालड़ी, अहमदाबाद-३८०००७, गुजरात, आकार— क्राउन, पृष्ठ ६+५८; प्रथम संस्करण १९९९ ई०, मूल्य ५०/- रुपये।

तपागच्छीय परम्परा में समय-समय पर अनेक प्रभावक आचार्य हो चुके हैं। इसी क्रम में २०वीं शती के प्रारम्भ में हुए आचार्य विजय रामचन्द्रसूरि का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। आचार्यश्री का विशाल शिष्य समुदाय आज भी उन्हीं के नाम से जाना जाता है। प्रस्तुत लघु पुस्तक में आचार्यश्री की परम्परा के मुनिजनों विजयपुण्यपालसूरि जी, विजयमुक्तिप्रभसूरि, मुनि तपोरत्नविजय, मुनिमोक्षरतिविजय, मुनि सम्यक्दर्शनविजय तथा भालचन्द्र कवि, पं० शिवलाल नेमचन्द्रशाह, श्री सुबोधचन्द्र नानालाल शाह एवं कु० मीना शामजी शाह आदि द्वारा संस्कृत भाषा में रचित उन कृतियों का संकलन है, जिसमें आचार्यश्री के गुणों का वर्णन है। सर्वश्रेष्ठ कागज पर मुद्रित इस पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त नयनाभिराम और मुद्रण कलापूर्ण है।

योगविंशिका रचनाकार— आचार्य हरिभद्रसूरि; वृत्तिकार— महो० यशोविजय गणि; गुजराती भाषा में विवेचक— पंन्यास अभयशेखर विजयगणि; संशोधक आचार्य श्री जयघोषसूरि जी; प्रकाशक— दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ३९, कलिकुंडसोसायटी, धोलका-३८७८१०, गुजरात, प्रथम संस्करण— वि०सं० २०५५, आकार— डिमाई, पक्की जिल्द बाइंडिग, पृष्ठ १६+२८८, मूल्य १००/- रुपये मात्र।

प्रस्तुत कृति ई० सन् की ८वीं शताब्दी में हुए महान् ग्रन्थकार याकिनी महत्तरासूनु विद्याधरकुलीन आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित **योगविंशिका** पर विक्रम सम्वत् की १७वीं-१८वीं शती के प्रख्यात् रचनाकार महोपाध्याय यशोविजयगणि द्वारा लिखित टीका की गुजराती भाषा में लिखी गयी बृहद् विवेचना है जो पंन्यास श्री अभयशेखरगणि द्वारा प्रणीत है। इसमें सबसे पहले मूल गाथा, फिर उसके पश्चात् उस पर रची गयी वृत्ति, वृत्ति का अर्थ, तत्पश्चात् उसका विस्तृत विवेचन है। चूँकि यह विवेचन गुजराती भाषा में हैं अत: इससे वही लाभ उठा सकते हैं जो उक्त भाषा के जानकार हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित होना अपरिहार्य है ताकि इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो सके। उत्तम कागज पर सुस्पष्ट मुद्रित ग्रन्थ का मूल्य भी अल्प ही है। गुजराती जैन समाज में इसका अत्यधिक आदर होगा, इसमें सन्देह नहीं।

श्री श्रमण क्रियानां सूत्रो प्रका०— श्री श्रुतज्ञान प्रसारक सभा, अहमदाबाद, तृतीय संस्करण १९८२ ई०, आकार— रायल, पक्की बाइंडिंग, पृष्ठ ३४८, मूल्य १३/- रुपये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन जैन ग्रन्थों में उल्लिखित श्रमण जीवन में आवश्यक क्रियाओं का संकलन कर उनका गुर्जरानुवाद दिया गया है। प्रथम विभाग में **साधु-साध्वी योग्य क्रियासूत्रों** के अन्तर्गत पंचपरमेष्ठी नमस्कार महामन्त्र, सामायिकसूत्र, दैवसिक अतिचार, रात्रिक अतिचार, पाक्षिक अतिचार, साधु-प्रतिक्रमण, पाक्षिकसूत्र, पाक्षिक खामणा आदि का २०० पृष्ठों में विस्तृत विवेचन है। द्वितीय विभाग में ३ परिशिष्ट दिये गये हैं जिनके अन्तर्गत विभिन्न नियमों, उपनियमों आदि का विस्तृत विवेचन है। एक श्रमण की दिनचर्या कितनी दुष्कर होती है, यह बात इस पुस्तक के अवलोकन से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। अल्पावधि में ही इस पुस्तक का तीसरी बार प्रकाशन होना इसकी लोकप्रियता का ज्वलन्त प्रमाण है।

भद्रोदयमहाकाव्य अपरनाम समुद्रदत्तचरित रचनाकार— महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज; सम्पादक— डॉ० रमेशचन्द्र जैन एवं श्री निहालचन्द्र जैन; अंग्रेजी अनुवादक— डॉ० राजहंस गुप्त, प्रकाशक— आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, व्यावर एवं भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, मन्दिर संघी जी, सांगानेर, जयपुर; प्रथम संस्करण—१९९९ ई०, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, पृष्ठ ४+३१+११४; मूल्य— १००/- रुपये।

बीसवीं शती में जैन धर्म के महान् प्रभावक आचार्यों में स्व० आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। उनके द्वारा संस्कृत और हिन्दी भाषा में रचे गये ग्रन्थों से आज सम्पूर्ण **विद्वद्जगत्** भली-भाँति सुपरिचित है। प्रस्तुत कृति **भद्रोदयमहाकाव्य** अपरनाम **समुद्रदत्तचरित** उनके द्वारा रचित एक लघु कृति है जिसमें ९ सर्ग और ३४५ श्लोक हैं। रचना के अन्त में रचनाकार द्वारा ४ श्लोकों की प्रशस्ति भी दी गयी है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक श्लोक के साथ उसका आंग्लानुवाद भी दिया गया है। पुस्तक के प्रारम्भ में २० पृष्ठों में विद्वान् सम्पादकद्वय ने आचार्यश्री की प्रमुख कृतियों का संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण विवरण दिया है, जो अत्यन्त उपयोगी है। चूंकि यह ग्रन्थ आंग्लानुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है अतः इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यह कृति प्रत्येक पुस्तकालय के लिये संग्रहणीय और विद्वद्जनों के लिये पठनीय है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन, आंग्लानुवाद एवं प्रकाशन के लिये सम्पादक, अनुवादक एवं प्रकाशक सभी बधाई के पात्र हैं।

पर्युषणप्रवचन, प्रवचनकार— मुनिश्री चन्द्रप्रभसागर; प्रकाशक— जितयशा फाउन्डेशन, ९सी, एस्प्लानेड ईस्ट, कलकत्ता ७०००६९; द्वितीय संस्करण— १९९७ ई०, पृष्ठ ४+१०७; आकार— डिमाई; मूल्य १७/- रुपये मात्र।

आगम को सुगम और कठिन को सहज बनाने की कला वस्तुतः प्रशंसनीय होती है। मुनिश्री चन्द्रप्रभसागर जी इस कला में सिद्धहस्त हैं। प्रस्तुत पुस्तक मुनिश्री द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पसूत्र एवं पर्युषण पर्व पर दिये गये प्रवचनों का संग्रह है। पर्युषण के अवसर पर कल्पसूत्र का पारम्परिक रूप से पारायण किया जाता है। मुनिश्री ने इसे नया आयाम देते हुए समय सापेक्ष बना दिया है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सहज ही प्रमाण है इसका १ वर्ष में ही दूसरी बार पुनर्मुद्रण होना। पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक व मुद्रण सुस्पष्ट है। ऐसे सुन्दर प्रकाशन को अल्पमूल्य में उपलब्ध कराने हेतु प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

चिन्तन प्रवाह : सेवा से श्रेयस की ओर लेखक— श्री जमनालाल जैन; प्रकाशक— श्री मूलचन्द बड़जाते, अध्यक्ष— अनेकान्त स्वाध्याय मन्दिर, रामनगर, वर्धा-४४२००१, महाराष्ट्र; प्रथम संस्करण— १९९९ ई०, पृष्ठ २५६, आकार— डिमाई, मूल्य ७५/- रुपये मात्र।

प्रस्तुत पुस्तक प्रबुद्ध चिन्तक और सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक श्री जमनालाल जैन के कतिपय मौलिक लेखों का संकलन है जो उनके ७५वें जन्मदिवस पर उनके आत्मीय मित्रजनों द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से प्रकाशित कराया गया है। पुस्तक ६ खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड— 'मानवता के मन्दराचल महावीर' में कुल ६ लेख हैं। इनमें विद्वान् लेखन ने महावीर के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार रखे हैं। द्वितीय खण्ड 'सत्य-अहिंसा और परिग्रह' को समर्पित है। इसमें १० लेखों को स्थान दिया गया है। तृतीय खण्ड 'श्रावक-साधक' को समर्पित है। इसमें कुल ७ लेख हैं। चतुर्थ खण्ड 'साहित्य व समाज' में भी ७ लेख हैं। पञ्चम खण्ड 'चिन्तन की पगडंडियां' में १९ लेख और 'अपने घर में' नामक षष्टम् खण्ड में १० लेखों का संकलन है। इस खण्ड के ४ लेख जमनालाल जी के तथा शेष ६ लेख उनकी पुत्रियों एवं अन्य आत्मीयजनों के हैं। प्रत्येक लेख अपने आपमें मौलिक एवं क्रांतिकारी विचारों से ओत-प्रोत है। पुस्तक के अन्त में लेखक की साहित्य सेवा का भी विस्तृत परिचय दिया गया है। चूँकि ये सभी लेख विगत ५० वर्षों में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और अब वे अप्राप्य से हो गये हैं अत: ऐसी स्थिति में उनके लेखों का एक स्थान पर प्रकाशित होना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इससे अधिकाधिक लोगों में क्रान्तिकारी लेखक के विचारों का प्रचार-प्रसार होगा, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे सुन्दर प्रकाशन के लिये प्रकाशक संस्था और उससे जुड़े विद्वान् बधाई के पात्र हैं।

छन्दशतक रचनाकार— कविवर वृन्दावनदास; सम्पादक— श्री जमनालाल जैन, प्रकाशक— अखिल भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद् २६१/३, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर, उ०प्र०, द्वितीय संशोधित संस्करण, वीर निर्वाण सम्वत २५२५, आकार— डिमाई, पृष्ठ ५५, मूल्य १०/- रुपये मात्र।

विक्रम सम्वत् की १९वीं शताब्दी के मध्य में हुए कविवर वृन्दावनदास जी चौबीस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनों की चौबीस पूजाओं के रचयिता के रूप में दिगम्बर जैन परम्परा में विख्यात हैं। उन्हीं द्वारा विरचित प्रस्तुत कृति **छन्दशतक** एक लघुकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें छन्दों की निर्माण विधि के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण छन्दों को स्वरचित उदाहरणों के माध्यम से समझाया गया है। यह पुस्तक श्री जमनालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर १९४८ ई० में मानखेट जैन संस्थान से प्रकाशित हुई थी। पुस्तक के प्रारम्भ में स्वनामधन्य स्व० डॉ० हीरालाल जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना और श्री जमनालाल जी द्वारा लिखित वृन्दावनदास जी का जीवन परिचय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक न केवल भक्तजनों बल्कि इतिहासज्ञों और साहित्यरसिकों के लिये भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से प्रत्येक पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय है। ऐसे सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को अत्यन्त अल्प मूल्य पर उपलब्ध कराने के लिये भी सम्पादक एवं प्रकाशक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं।

पर्वों की परिक्रमा, आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री, प्रकाशक— श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर ३१३००१, प्रकाशन वर्ष १९९९ ई०, पृष्ठ ११+२५५, आकार—डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य १०० रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर स्व० आचार्य देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री द्वारा विभिन्न पर्वों के अवसर पर दिये गये २१ प्रवचनों का संकलन है। ये प्रवचन बहुत ही सरल और जीवनस्पर्शी हैं। जीवन की समस्याओं को स्पर्श कर समाज के वातावरण को झकझोरने की इनमें अद्भुत क्षमता है। अपने प्रवचनों में आचार्यश्री प्रतीकात्मक प्रेरणाओं के माध्यम से जनसामान्य को गूढ़तम तथ्य सहज ही प्रस्तुत करते रहे हैं। इस पुस्तक में वैचारिक सामग्री अधिक और कथाप्रसंग अपेक्षाकृत कम हैं। पर्वों की प्रेरणा पर इसमें बहुत बल दिया गया है। आज पर्वों को जीवन में आमोद-प्रमोद का माध्यम मान लिया गया है जबकि इनके मूल में जीवन परिष्कार व जीवन संस्कार की प्रेरणा निहित है। इसी दृष्टि से यह पुस्तक संकलित की गयी है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में आध्यात्मिक पर्वों— पर्युषण, संवत्सरी, ज्ञानपञ्चमी, अक्षयतृतीया आदि पर कुल १० निबन्ध हैं। द्वितीय भाग में रक्षाबन्धन, श्राद्ध, विजयादशमी, दीपावली, वसन्तपञ्चमी, होली आदि की चर्चा में २१ निबन्ध दिये गये हैं। पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक तथा मुद्रण सुस्पष्ट और त्रुटिरहित है। यह पुस्तक शोधार्थियों एवं जनसामान्य दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी है। आचार्य श्री द्वारा विभिन्न पर्वों पर दिये गये प्रवचनों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कर प्रकाशक संस्था ने जनसामान्य का उपकार किया है। इस पुस्तक का महत्त्व इसलिये भी है कि यह सम्भवत: आचार्यश्री की अन्तिम पुस्तक है।

प्रतिष्ठारत्नाकर, प्रणेता— पं० गुलाबचन्द्र 'पुष्प', सम्पा०— पं० दरबारी लाल कोठिया एवं ब्रह्मचारी जय 'निशांत', प्रकाशक— प्रीत विहार जैन समाज (रजि०),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जिनालय, एफ० ब्लाक, प्रीतविहार, दिल्ली ९२, प्रथम संस्करण, आकार— रायल अठपेजी, पक्की जिल्द, पृष्ठ १४+९७+६२५, अनेक यंत्र-चित्रादि सहित, मूल्य २००/- रुपये।

दिगम्बर जैन समाज में बहुत समय से सर्वमान्य प्रतिष्ठापाठ तैयार करने की आवश्यकता रही है जिसके परिणामस्वरूप पं० नाथूलाल जी शास्त्री ने **प्रतिष्ठाप्रदीप** नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम में पं० गुलाबचन्द्र जी 'पुष्प' द्वारा तैयार की गयी प्रस्तुत पुस्तक है। यह १५ परिच्छेदों में विभक्त है। इनके अन्तर्गत अभिषेक, पूजा, हवन, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का महत्त्व, प्रतिष्ठाकारक के लक्षण, प्रतिष्ठाचार्य के लक्षण, प्रतिष्ठाफल, मदिरनिर्माणविधि, प्रतिमानिर्माणविधि, मुहूर्तावली, यागमण्डल, पञ्चकल्याणकपूजा, बाहुबलि बिम्बप्रतिष्ठा, मानस्तम्भ प्रतिष्ठा, आचार्य, उपाध्याय, साधुबिम्बप्रतिष्ठा, चरण पादुकाप्रतिष्ठा, यंत्र प्रतिष्ठा, वेदी प्रतिष्ठा, कलशारोहण, मन्त्राधिकार, यंत्राधिकार आदि का विस्तृत विवरण है जो प्राचीन प्रतिष्ठापाठों पर आधारित है। पुस्तक का मुद्रण आकर्षक और निर्दोष है। यह पुस्तक प्रत्येक श्रद्धालु जैनों के लिये अनिवार्य रूप से संग्रहणीय और मननीय है। दिगम्बर जैन समाज में इसका सर्वत्र आदर होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ के प्रणयन और उत्तम रीति से सम्पादन के लिये लेखक और विद्वान सम्पादकगण बधाई के पात्र हैं। प्रीतविहार जैन समाज, दिल्ली ने न केवल इसके प्रकाशन का व्यय वहन किया बल्कि इसे लागत मूल्य पर उपलब्ध भी कराया है ताकि इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो सके। ऐसे सुन्दर और लोकोपयोगी प्रकाशन के लिये प्रकाशक संस्था बधाई की पात्र है।

हमारे पूर्वज : हमारे हितैषी, संकलक—श्री सुबोधकुमार जैन, सम्पादक— श्री जुगलकिशोर जैन, प्रकाशक— जैन सिद्धान्त भवन, देवाश्रम, आरा (बिहार) ८०२३०१, प्रथम संस्करण १९९९ ई०, आकार— डिमाई, पृष्ठ १३+१३९, मूल्य २५/- रुपये।

जैन धर्म-दर्शन के सामान्य अध्येताओं को **जैनसिद्धान्तभास्कर** नामक शोध पत्रिका तथा उसे प्रकाशित करने वाली संस्था **जैनसिद्धान्तभवन** की स्वल्प जानकारी तो है, परन्तु इसे स्थापित करने वाले महापुरुष कौन थे? इस वंश में कौन-कौन से प्रसिद्ध साहित्य व समाजसेवी हुए, इस बात की जानकारी मात्र इने-गिने लोगों तक ही थी और वह भी अल्प रूप में। इस पुस्तक के प्रकाशित हो जाने से न केवल जैन समाज, बल्कि जनसामान्य को भी इस संस्था के संस्थापक और उनके परिजनों से सम्बन्धित प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी। इस पुस्तक के संकलक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनसिद्धान्तभवन के आधारस्तम्भ बाबू निर्मलकुमार जी के सुपुत्र बाबू सुबोधकुमार जी हैं। उन्होंने अत्यन्त श्रमपूर्वक जैनसिद्धान्तभास्कर तथा अन्यत्र प्रकाशित विभिन्न लेखों को संकलित और उन्हें प्रकाशित कर एक महान् कार्य किया है। यह प्रेरणादायी पुस्तक सभी आयु व सभी वर्ग के लोगों के लिये पठनीय व मननीय है। इस पुस्तक की यह विशेषता है कि इसे पढ़ने के पश्चात् पाठक के मन में स्वतः यह प्रेरणा उठने लगती है कि वह ऐसी अनुपम संस्था का एक बार अवश्य दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ करे। ऐसे प्रेरणादायी पुस्तक के संकलन, सम्पादन व प्रकाशन के लिये संकलनकार, सम्पादक व प्रकाशक सभी अभिनन्दनीय हैं।

श्री लक्ष्मणभाई भोजक अभिनन्दना सम्पा०— डॉ० जितेन्द्र बी०शाह, प्रकाशक— सम्बोधि संस्थान, 'दर्शन', राणकपुर सोसायटी के सामने, शाहीबाग, अहमदाबाद-३८७००४, प्रथम संस्करण-२००० ई०, आकार— रायल, पृष्ठ ७+१३४, मूल्य ७५/- रुपये।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के लिपिविशेषज्ञ के रूप में श्री लक्ष्मणभाई भोजक द्वारा जैन समाज को दी गयी सेवाओं से हम सभी परिचित हैं। पुरातत्त्वाचार्य स्व० मुनि जिनविजय और आगमप्रभाकर स्व० मुनि पुण्यविजय जी के निकट सहयोगी के रूप में विभिन्न प्राचीन ग्रन्थ भण्डारों में उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों के संरक्षण, सम्पादन आदि विषयक जो महान् कार्य सम्पन्न किये हैं वे आज की पीढ़ी के लिये आदर्श हैं। ऐसे महान् विद्वान् का अभिनन्दन कर सम्बोधि संस्थान स्वयं गौरवान्वित हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री लक्ष्मणभाई के सम्पर्क में आये विभिन्न आचार्यों, मुनिजनों, विद्वानों आदि के संस्मरण, शुभकामनाओं आदि को स्थान दिया गया है। यदि पुस्तक के एक भाग में आपके कुछ लेखों को भी स्थान दिया जाता तो और भी उत्तम होता। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक एवं मुद्रण निर्दोष व सुस्पष्ट है। पुस्तक में लक्ष्मणभाई के कुछ चित्र भी हैं जो इसे और भी आकर्षक बना देते हैं। एक पुरालिपि विशेषज्ञ के रूप में श्री लक्ष्मण भाई का प्रेरक जीवन परिचय प्रदान करने में यह पुस्तक पूर्णरूपेण सक्षम है। भावी पीढ़ी इससे निःसन्देह लाभान्वित होगी।

ऐसी हो जीने की शैली मुनिश्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रकाशक— श्री जितयशा फाउन्डेशन ९सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता, प्रकाशन वर्ष— १९९९ ई०, पृष्ठ ८+१४४, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य २५ रुपये।

ध्यान का विज्ञान मुनिश्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रकाशक— उपरोक्त, प्रकाशन वर्ष १९९८ ई०, पृष्ठ ४+१०९, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य २० रुपये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाजीवन की खोज मुनिश्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रकाशक— उपरोक्त, प्रकाशन वर्ष १९९८ ई०, पृष्ठ ६+१६२, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य २५ रुपये।

पंछी लौटे नीड़ में मुनिश्री चन्द्रप्रभसागर, प्रकाशक— उपरोक्त, प्रकाशन वर्ष १९९८ ई०, पृष्ठ ८+१६२, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य २५ रुपये।

न जन्म न मृत्यु मुनिश्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रकाशक— उपरोक्त, प्रकाशन वर्ष १९९८ ई०, पृष्ठ १०+१८७, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य ३० रुपये।

महागुहा की चेतना महो० श्री ललितप्रभसागर, प्रकाशक— उपरोक्त, प्रकाशन वर्ष १९९८ ई०, पृष्ठ ६+२२८, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य २५ रुपये।

झरे दसहुँ दिश मोती महो० श्री ललितप्रभ सागर; प्रकाशक— उपरोक्त, प्रकाशन वर्ष १९९९ ई०, पृष्ठ ८+२१०, आकार— डिमाई, पक्की बाइंडिंग, मूल्य ३० रुपये।

महोपाध्याय ललितप्रभसागर और मुनिश्री चन्द्रप्रभसागर श्रमण परम्परा के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। उनकी लेखनी से अब तक सैकड़ों ग्रन्थ निःसृत हो चुके हैं। प्रवचन कला में सिद्धहस्त मुनिद्वय के उपरोक्त ग्रन्थ विभिन्न अवसरों पर उनके द्वारा दिये गये प्रवचनों के संग्रहरूप हैं। गूढतम विषयों को विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से जनसामान्य को समझा देना इनकी विशेषता है। मुनिद्वय के प्रवचनों के प्रकाशित हो जाने से अन्य लोग भी उनसे लाभ उठा सकेंगे। आपके पूर्व के ग्रन्थों की भाँति इन ग्रन्थों का भी समाज में भरपूर स्वागत होगा, इसमें सन्देह नहीं है। प्रत्येक ग्रन्थ की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक व मुद्रण कलापूर्ण है। जनसामान्य में प्रचार-प्रसार की सुविधा हेतु इनका मूल्य भी अत्यल्प है। ऐसे सुन्दर प्रवचनों को प्रकाशित करने के लिये प्रकाशक और इसमें अर्थ सहयोगी दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

मानवता के मानदण्ड (आचार्य देवेन्द्र मुनि के प्रवचनों का संग्रह) : सम्पादक— पण्डितरत्न श्री नेमीचन्द्र जी महाराज, प्रकाशक— श्रीतारक गुरु जैन ग्रन्थालय; गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर, राजस्थान, प्रथम संस्करण १९९८ ई०, आकार— डिमाई, पक्की जिल्द, पृ० १६+४०४; मूल्य १२५/- रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री द्वारा समय-समय पर दिये गये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवता सम्बन्धी प्रवचनों का संकलन है। इस ग्रन्थ में कुल १९ प्रवचन संकलित हैं। इसका सम्पादन सन्तरत्न मुनिश्री नेमीचन्द जी ने बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है। इनमें आचार्यश्री ने हमें अपने नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊपर उठाने की प्रेरणा दी है। मनुष्य शरीर की महत्ता, ब्रह्माण्ड में मनुष्य का श्रेष्ठत्व, इस श्रेष्ठत्व को प्राप्त करने, इसकी सार्थकता, पशुता और मानवता में अन्तर, मनुष्यता की आधारशिला- नैतिकता आदि पर केन्द्रित यह ग्रन्थ प्रत्येक व्यक्ति के पढ़ने और मनन करने के लिए उत्तम और प्रेरणास्पद है। पुस्तक की छपाई, कलेवर, कागज एवं साज-सज्जा अति उत्तम है।

प्रेरणा के पावन पल–आचार्यश्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री प्रकाशक— श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, राजस्थान, प्रथम संस्करण १९९८ ई०, आकार— डिमाई; पक्की जिल्द, पृ० १६०, मूल्य- ५०/- रुपये।

आचार्यश्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री द्वारा लिखित इस पुस्तक में कुल २० प्रेरक कथाओं को संकलित किया गया है, जो विभिन्न धर्मग्रन्थों एवं लोककथाओं में प्रचलित रही हैं। इस ग्रन्थ में प्रेरक पात्रों के माध्यम से मनुष्य के गुणों को उजागर किया गया है तथा यह बात स्पष्ट की गयी है कि मनुष्य की पहचान उसके गुणों से ही होती है। इन गुणों में त्याग, सेवा, सच्चाई, सद्भाव, दयालुता, उदारता तथा सत्पुरुषार्थ प्रमुख हैं। ग्रन्थ में प्रकाशित कथाएँ इन्हीं गुणों के इर्द-गिर्द केन्द्रित हैं तथा जीवन जीने की शैली को प्रतिपादित करने के सूत्ररूप में हैं। पुस्तक की साज-सज्जा, मुद्रण, सम्पादन, कागज आदि अति उत्तम है।

मूलसंघ और उसका साहित्य, पं० नाथूलाल जैन शास्त्री, प्रकाशक— कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, तुकोगंज, इन्दौर, पृष्ठ २०२, प्रथम संस्करण, मूल्य ७०.००।

समाज के बहुश्रुत विद्वान् पं० नाथू लाल जी शास्त्री की यह कृति पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक प्रोफेसर सागरमल जी द्वारा लिखित 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' नामक पुस्तक के उत्तर में लिखी गई है। इसमें उन्होंने आचार्य गुणधर और उनके **कसायपाहुड** को आचार्य धरसेन और उनके **षड्खण्डागम** से पूर्ववर्ती सिद्ध कर आचार्य कुन्दकुन्द और मूलसंघ को प्राचीन सिद्ध किया है। मूलाचार, **भगवती आराधना** और **तिलोयपण्णत्ति** के उन उद्धरणों की भी मीमांसा की गई है जिनके आधार पर उन्हें मूल से यापनीय कहा गया है। ग्रन्थ पठनीय, विचारणीय और संग्रहणीय है।

The Doctrine of Jainas -- by Walther Schubring, published by Motilal Banarasidas, New Delhi, 200, p. 388, Price- Rs. 295/-.

The original book *"Die Lehre der Jainas, nach den alten quellen dargestellt"* had been published in 1934 and its English translation in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1978. This is its revised edition prepared by Willem Bollee and Jayendra Soni containing three indices. The author has tried to put the essence of Jainism in a lucid way in the light of history, cosmology and cosmography. The book also gives an idea of what has been accomplished by western scholars during a period of about one hundred and fifty years. It is worthwhile for the libraries.

Collected Papers on Jaina Studies -- by Padmanabh S. Jaini, Publisher - Motilal Banarasidas, New Delhi, First edition, 2000, p. 428, Price- 395/-.

Professor P.S. Jaini, Professor of Buddhist Studies at the University of California at Berkeley is a renowned scholar of both the streams of Jainism and Buddhism. He is best known for the *'Jain Path of Purification'* published in 1979. This was followed in 1991 by *Gender and Salvation* and *Jaina Debates* on the spiritual liberation of women.

The present work is a collection of twenty one papers on various topics divided into six sections- i) Introduction of Jain faith, ii) Jain studies, iii) Some Aspects of Reality in Jainas Doctrine, iv) Some aspects of Karma theory, v) Jaina Ethics and Praxis, and vi) Jaina Purāṇas. These papers covered a broader outlook of Jainism and humanity, Ahiṁsā, Reality, Rebirth, Sāmāyika etc. Prof. Jaini has dealt these topics with his full gravity of scholarship. The book can be considered standard and for conducting research work in Śrāmaṇic studies.

Sudha Sāgar Hindi-English Jaina Dictionary, Editor- Dr. Ramesh Chandra Jain, Publisher- Digambar Jain Atishaya Kshetra Mandir, Sanganer, Jaipur, First edition 1999, p. 380, Price - Rs. 300/-

The work is a compilation from all possible English renderings of Jaina Texts, Commentators and learned books. It does not submit the original texts, which would have been more useful. However, the Dictionary can be utilized for understanding Jainism in English.

Jain Sanctuaries of the Fortress of Gwalior -- by T.V.G. Shastri, Publisher- Kundakunda Jñānapeeth, Indore, First edition 1997, p. 140, Price- 500/-.

Dr. Shastri, former Director, Birla Archaeological and Cultural

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Research Institute, Hyderabad has taken up the painstaking but noble task of documenting, describing and systematically analysing the Jaina shrines, and sculpturas of Gwalior in the present monograph. He traced out the history of Gwalior right from stone age to modern times. The importance of the site could be well understood through this book. Dr. Shastri has rendered a real service to Jaina art and archictecture by evaluting the rock shelters of the Fortress of Gwalior.

Jaina Theory of Mutiple Facets of Reality and Truth (Anekāntavāda), Edited by Nagin J. Shah, Published by Motilal Banarasidas and B.L. Institute of Indology, Delhi, First edition 2000, p.148, Price- Rs. 200/-

The present volume is a collection of the articles submitted at the Seminar on "Jain Logic and Epistemology" organised by the BLI in 1990 under the stewardship of the late Dr. B.K. Matilal, Emeritus Professor at Oxford, U.K. The writers of these articles are B.K. Matilal, K.C. Bhattacharya, Atsushi Uno, U.M. Kulkarni, V. Venkatachalam, Pradeep Gokhle, D.S. Kothari, L.V. Joshi, Dayanand Bhargava, Bhagchandra Jain Bhaskar and Dr. Ramjee Singh. The volume is wirthwhile for both libraries and individual.

Bulletin d'Etudes Indiennes, Editor: Nalini Balbir, Paris, Volume 16; 1998, pp. 361-363.

19. **Hazarimull Banthia,** Dr. Luitgard Soni, German Jain Śrāvikā Dr. Charlotte Krause, Her Life & Literature, Vol. I. Compiled by Pārśvanātha Vidyāpīṭha, Varanasi 1999 (Pārśwanātha Vidyāpītha Series No. 119), XXXVII+627 p., 14x22, 500 rupees; $ 40- Nalini Balbir.

The intellectual development and the works of the German Indologist Dr. Charlotte Krause have been presented in the previous volume of this journal by Mrs. L. Soni, ("Charlotte Krause 1895 - 1980; Indologist and Jain scholar," pp. 299-310). These are reprinted in the book under review (p. xxv-xxvii), the publication of which is largely due to the efforts of H.M. Banthia, the enlightened Jaina layman; who set his heart upon making his compatriots and others better acquainted with the work of European scholars interested in his religion. He has already shown this by working towards the rehabilitation of Luigo Pio Gessitori, an Italian contemporary of Charlotte Krause who, like her, left Europe

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

when quite young, experienced a profound attraction towards Jainism and lived to the end of his life in India. Charlotte Krause on her part went even further. She took Indian nationality, converted to Jainism and was known for some time under the name of Subhadra Devi. These facts explain the attribute "German Jain Śrāvikā", applied to her. At a later period in her life, and for reasons not made clear here but which can be read between the lines, there came a certain disenchantment towards Jainism. In her sixties, Charlotte Krause re-entered the Catholic Church and shut herself up in Gwalior where she lived and where her tomb (photo in the frontispiece) is to be found. In his foreword, Mr. S.R. Sarma, specialist in history of science and retired professor of Aligarh Muslim University, a large part of whose studies were done in Marburg, narrates briefly the role of German scholarship in the development of Indology and lists a number of German specialists in Jaina studies (Strangely, for the present period, the name of Mme. A Mette is missing).

The main part of the book is a re-arrangement of the minor writings of Charlotte Krause, distributed in three sections according to the language in which they were written for she spoke, besides English, fluently Hindi and Gujarati (English ten articles, pp. 3-226; Hindi, 2 articles, pp. 229-272; six articles, pp. 275-310). The fourth section of the book contains the most well known major works of the author and this is a welcome initiative: Ancient Jaina Hymns (published in Gwalior in 1952 but difficult to find now) which bring together the original texts of eight hymns, annotated and provided with commentaries. It is an useful collection and it is one of the few systematic works available until now in the immense field of *Stotra* and other Jaina *Stutis*, still too little studied. With regard to the annotated edition with grammar and glossary of the Nāsaketarī Kathā (Leipzig 1925; here pp. 465-595) which was originally the doctoral thesis of the author, it is hardly necessary to stress its importance for the knowledge of New Indo-Aryan languages of western India, on which they throw an extremely valuable light. If it contained only these two monographs, the present volume would already have been indispensable. But it allows, on the other hand, the reader to discover thousands of little known facets of the history and literature of the Jainas, all through the articles, apparently more anecdotal

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

but also very interesting, which are assembled in the other sections. Besides philological researches which deal with the examination of unknown texts (e.g. "Poetical Biography of ŚrīVijaya Dharma Sūri," pp. 198-213; the *Sajjhā* and *Stuti* in Old Gujarati p. 275 ff., etc); one can read general or comprehensive essays which, it should be noted, are written from the insider's viewpoint ("The Kaleidoscope of Jaina Wisdom", "An Interpretation of Jaina Ethics", "The Heritage of the Last Arhat," pp. 3-86); and there are also articles which make assertions that cannot please everybody (such as the one about the stifling atmosphere of the caste system which, according to the author, the Jainas maintain in the present times; "The Social Atmosphere of Present Jainism", pp. 93-104, the same in Hindi version, pp. 263-272). The Introduction by Prof. Sagarmal Jain (pp. ix-xxi), well known for his works on Jaina Philosophy, recalls the personality of Charlotte Krause (whom he knew personally) and is, at the same time, a lucid presentation and critique of the works reproduced in the book; nor does it evade the questions, even difficult questions, raised in the life sketch. It allows the reader to have a balanced view of the collected works which are presented here.

Despite a few printing mistakes here and there (the book is entirely recomposed, the articles are not reproduced mechanically), the printing and layout of this book are excellent and pleasing. The paper is of good quality. There is only one fault: if the place of publication and the original pagination of the articles had been indicated before each text, it would have been easier and without much difficulty to locate the references. This inconvenience could have been avoided, for instance, by indicating the original page numbers in bold square brackets. Be that as it may, one fervently hopes that the Pārśvanātha Vidyāpītha, the Jaina Institute whose recent publications are of increasingly high quality, or some other Indian publisher takes up the publication of similar works which are unfortunately not well known and make them accessible to scholars of Indian Studies.

Translated by Dr. Renate Sarma

आचाराङ्ग : प्रथम श्रुत-स्कन्ध, प्रथम अध्ययन, प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद, १९९७, मूल्य १५०/- रुपये, पृष्ठ ३०+३२८.

प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड द्वारा प्रकाशित और डॉ० के०आ ०चन्द्र द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादित **आचाराङ्ग : प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन** पुस्तक जहाँ जैन आगमों के सम्पादन की अर्वाचीन परम्परा का आदर्श नमूना पेश करता है वहीं उनकी इस क्षेत्र की साधना का यह ज्वलन्त प्रतीक बन गया है। पूज्य आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा व्यक्त की गई अभिलाषा, आज डॉ० चन्द्रा के द्वारा भले एक अध्ययन के रूप में ही सही, परिपूर्ण हुई है, यह जैन संशोधन क्षेत्र की एक रोमहर्षक घटना कही जायगी। 'संपत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा' — भवभूति की यह उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है।

जब मैं पालि भाषा के परिचय में आया तो एक प्रश्न उठा कि जैन आगमों की भाषा भी उसी देश-काल की है तो दोनों में इतना अन्तर क्यों? इस सम्पादित प्रथम अध्ययन को देखने पर समाधान हुआ। अब पालि और अर्धमागधी में उतना ही अन्तर मालूम होता है जितना कि दक्षिण और उत्तर गुजरात की गुजराती में हो सकता है।

पालि 'त्रिपिटक' बहुत पहले ही भारत से बाहर चले गए और वहाँ जैसे के तैसे रह गए। जैन आगमों को शतकों में जैन श्रमणों के बदलते हुए उच्चारों से प्रभावित होना पड़ा। आज के संशोधनप्रधान और उचित सुविधापूर्ण समय में मूल भाषा तक पहुँचने के द्वार खुले हैं, फिर भी यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य है।

इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर प्रचण्ड परिश्रम के दर्शन होते हैं। इस प्रकाशन के लिए डॉ० चन्द्रा को बधाई और इसी प्रणाली पर आचाराङ्ग, सूयगडंग जैसे प्राचीन आगमों का पुनः सम्पादन डॉ० चन्द्रा के हाथों से ही सम्पन्न हो, ऐसी मङ्गल-कामना प्रेषित करता हूँ। — मुनि भुवनचन्द्र।

Ācārāṅga : Linguistically A Critical Edition of the First Chapter of the First Part, Edited by Prof. Dr. K.R. Chandra, Prakrit Jain Vidya Vikas Fund, Ahmedabad, Pages : xxii + 328, 1997, Price : Rs. 150/-.

The great teachers Mahāvīra and Gautama Buddha (Circa 600 B.C. according to Europeans and 1600 B.C. according to *Yugābda)* were contemporaries. They lived in adjacent areas and preached their gospels practically to the same people living in the same area. But the texts of their teachings that have come down to us show as if they belonged to different centuries, Pāli appearing to be older than Ardha-Māgadhī (AMg.). The reasons are historical. Pāli the fortunate of the two, got royal patrons like Aśoka and Kaniṣka, while tracts of AMg. were preserved in their memory by Jain sages who depended on the support of their community which itself had to go through different vicissitudes resulting in their migration towards the West in the Mahārāṣṭrī-speaking area.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Not that the present Pāli is the actual *Buddha-Vacana* (Buddha's speech). Nor is it the language of the first Saṅgīti at Rājagṛha, convened by Mahā Kassapa immediately after the emancipation *(nirvāṇa)* of Buddha and tried to pool together Buddha's words as remembered by 500 direct disciples of Buddha.

Dr. B.C. Law in his *History of Pāli Literature* traces in Pāli the influence of Western Prakrits, especially the Girnar Edict of Aśoka. Whatever be the reason, but Pāli could retain some semblance to its older form.

AMg. texts were preserved in their memory by Jain sages. But when devastating famines visited Magadha, their patrons ordinary people themselves became victims of the famine and could hardly support the sages-- repositories of certain sections of the *Āgama*. Hiralal Kapadia in his *History of the Canonical Literature of the Jains* gives us a long list of such sections which are irretrievably lost.

Hemacandra, the great polymath, in his *Commentary on Yoga Sūtras* notes : "Finding that the *Jina Vacana* (Jain Canon) was almost lost *(ucchinna-prāya)* as a result of the famine the revered Ācāryas Nāgārjuna and Skandila got (the remnant of it) written down in books"(जिनवचनं दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।)

Finally Devardhi Gaṇi convened a conference at Valabhī in Kāthiāwād (Gujrāt) in the 6th Cent. A.D. and recorded the available AMg. canon in books. This is generally regarded as the standard AMg. Canon now.

After the fixation of the Canon, the era of scribal errors, emendations and additions (all unauthorised) began. I was not surprised when I found six inexplicable variants of the word *kṣetrajña* (क्षेत्रज्ञ) in Mumbai's Mahāvīra Jaina Vidyālaya (MJV.) edition of the *Ācārāṅga Sūtra* in Dr. Chandra's Hindi book : *Prācīna Ardhamāgadhī kī Khoj meṁ*. As a text critic, one gets used to it. But I was surprised to find that Dr. Chandra collected 75000 forms (cards) from ancient Jaina texts like *Ācārāṅga, Sūtrakṛtāṅga, Ṛṣi-bhāṣitāni, Uttarādhayana, Daśavaikālika* and compared them with those in Pāli *Sutta-nipāta* and Eastern Edicts of Aśoka. With

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

such temendous labour, Dr. Chandra could ascertain some linguistic characteristics of the *Jina Vacana*--that too when no Prakrit grammarians including Hemacandra, treated AMg. in their treatises.

Dr. Candra's work was trail-blazing. That was in 1991. Dr. Chandra persisted in his search for *Jina Vacana*. In 1994 Dr. Chandra published his monograph, *"Restoration of the Original Language of Ardha-Māgadhī Texts."* Herein Dr. Chandra presents a critical comparative and scientific phonological and morphological study of variants of some vocables from *Ācārāṅga*, Part I (MJV. Ed. 1977) and their old variants available in palm-leaf and paper MSS. of the same text. It proves the obvious influence of Mahārāṣṭrī on AMg. canon due to environmental circumstances, passage of time and Mahārāṣṭrī-oriented scribes who were naturally inclined to use pro-Mahārāṣṭrī forms for corrections (?), emendations, additions, etc.. I doubt whether orthodox Jain teachers can (could) even think of "polluting" the *Jina Vacana* by modernising it for their followers.

With my friend Satya Ranjan Banerjee, I congratulate Dr. Chandra for this brilliant piece of research with meticulous care, though I do not agree with him (Dr. Banerjee) in tracing the affinity of AMg. with old Persian.

The present work under review is an epoch-making piece of research. Herein Dr. Chandra tries to reconstruct the original AMg. canon of *Ācārāṅga*, Part I, Chapter 1. Dr. Chandra is eminently capable of undertaking this epoch-making -- somewhat revolutionary work.

Dr. Chandra has tried to take us one step nearer the *Jina Vacana*. His method is realistic. He has taken the best available edition of the *Ācārāṅga*, viz. of Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Mumbaī (1977) as the basic text. It also contains some new AMg., i.e. pro-Mahārāṣṭrī forms. He substituted them with old AMg. forms culled from ancient (senior) AMg. texts like *Sūtrakṛtāṅga, Ṛṣi-bhāṣitāni, Uttarādhyayana*. He did not try to emend the text as per his discretion. **Thus the restored text appears like one excavated at Vaiśālī or some other ancient site in Magadha.** He has given us an alphabetical list of such words utilised by him (Part V, pages, 167-195), a tabular statistical statement of phonological changes in AMg. (See Part IV, pages 157-166) and he

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

modestly states that this statistic table shows general tendencies in sound-changes in old AMg.

The most interesting part is his word to word comparison of his restored text with that in the editions of W. Schubring (1910), Āgamodaya Samiti (1916), JVB. Ed. (1974) and MJV. Ed. Mumbaī (1977).

Any unbiased scholar will concede that the restored text presents the ancient AMg. (Part VI, Pages, 198-269), as compared with other editions of the *Ācārāṅga.*

It is not feasible to discuss the phonological, morphological and syntactical characteristics of old AMg. in the context of the present work.

I think the AMg. forms traceable to Vedic Skt. rather than to classical Skt. may be regarded as original or older AMg. forms. Thus forms like *adhe* in *adhe disāto, adha, idha,* Aorist forms like *ahesi āhaṁsu, akarissaṁ* can be accepted as old AMg. Pischel in his *Grammatik der Prakrit Sprachen* (516, 517 & 518) has given Prakrit derivatives of Skt. past Imperfect and Perfect.

On the basis of his variants from various old AMg. texts Dr. Chandra notes the following characteristics of old (or original) AMg. :

(1) Retention of initial and medial dental nasal n, the change of *jñ, ny, nn* to *nn.* For example --

(i)	N retaineed	: *na, natthi, neva, jonīo, anudisāo,*
(ii)	JÑ=NN	: *sannā (saṁjñā), parinnā (parijñā),*
(iii)	NY=NN	: *anne (anye), annesiṁ (anyeṣām),*
(iv)	NN=NN	: *paḍivanna (pratipanna).*

There are exceptions which show change to crebral *ṇ.* For example : *ṇaṁ (nūnam), nāṇa (jñāna), appaṇa (ātman).*

(2) A tendency to retain intervocalic *k, c, t,* or *p* and occasionally to change them to *g, j, d,* (the earlier three respectively). The elision of medial consonants is Mahārāṣṭrīsm. Thus *kappati* is an old AMg form while *kappai* shows the influence of Mahārāṣṭrī and hence a younger form.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In morphology we find the following old terminartions preserved in the restored text :

For example : Nom. *Sg.* *-e* (for the Mahārāṣṭrī *-o* which is frequently used in other texts of the Canon.

Neuter Nom. and Acc. plural suffix -ni., Instrumental Sg. *-ena* (not *enaṁ),* Instrumental Plutral *in -hi* (from Vedic-*bhiḥ* as in *karṇebhiḥ śruṇuyāma devāḥ),* Ablative Sg. - *to.,* Locative Sg. *-ssiṁ* (Old. Skt. *-smin).*

Sometimes editors unaware of the -e termination of Nom. and Vocative Sg. create some confusion. The main reason is that old MSS. do not separate words in writing as we do so today. All the letters are written without any adequate gap between two words.Thus we find the opening sentence of *Ācārāṅga* printed as follows :

(i) *Suyaṁ me āusaṁ teṇaṁ Bhagavayā evaṁakkhāyaṁ*
(सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं)।

(ii) *Sutaṁ me āusaṁteṇa (or āusaṁteṇaṁ) Bhagavatā evamakhātaṁ*
(सुतं मे आउसंतेण (अथवा आउसंतेणं) भगवता एवमक्खातं)

The *Cūrṇi* interpretes : *mayā āvasatā* (मया आवसता) "By me while worshipping." Tradition tells us that Sudharman heard it directly. It is to Jambu-svāmin that he calls "āusaṁ (Āyuṣman "Long-lived" (आयुष्मन्).

If the reading is taken as "Āusaṁteṇaṁ" (आउसंतेणं) that will qualify the instrumental Sg. Bhagavayā (भगवया). To call the Lord *"Āyuṣman"* (आयुष्मन्) is really strange.

The sentence, if the letters are arranged as follows, makes a logically good sense:

Sutaṁ me āusaṁte ṇaṁ Bhagavatā evamakkhātaṁ
(सुतं मे आउसंते णं भगवता एवमक्खातं)

"Oh Āyuṣman (Jambu)! I have heard etc."

The forms *āuse, bhaṁte* are common in other old AMg. texts and the *Cūrṇis* (For details vide: Chandra on *"ĀUSAṀTE ṆAṀ"* (आउसंते णं) in *ŚRAMAṆA,* July-Sept. 1995).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Dr. Chandra has provided us with the text of the first chapter of the frist part of *Ācārāṅga* as published by Prof. H. Jacobi, 1882. Jacobi was lucky in securing perhaps the oldest Ms. (of 1292 A.D.). It is noteworthy that the old German Scholar more than a century ago, with scant MSS. material, could sense the old AMg. forms. In a way it supports the restored text (by Dr. Chandra), though he was not then aware of it.

Prof. Dr. K.R. Chandra, a devout Jain scholar, has been "haunted" with the cause of restoring the *Jina Vacana* to its pristine purity. He culled 75000 forms (cards) from old AMg. texts, pored over practically every letter of the standard editions of the *Ācārāṅga*, studied text-critical problems of such *Āgamic* works and presented a model edition of the Ist *Adhyayana* of the *Ācārāṅga* which even Sudharman will appreciate from High Heavens.

It is certainly creditable that Dr. Chandra has single-handedly prepared this excellent edition - a beacon for generations to come. But such epoch-making projects should be undertaken by some research institute founded for this specific purpose. Fortunately, Gujrat and Rajasthan have a number of good old Bhaṇḍāras. There are eminent scholars who can competently undertake such work. And the liberal munificence of the Śvetāmbara Jain community will certainly finance such a project.

G.V. Tagare

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Statement About the Ownership & Other Particulars of the Journal

ŚRAMAṆA

1.	*Place of Publication*	:	*Parśwanātha Vidyāpīṭha I.T.I. Road, Karaundi. Varanasi-5.*
2.	*Periodicity of Publication*	:	*Quarterly.*
3.	*Printer's Name, Nationality and Address*	:	*Vardhaman Mudranalaya Bhelupur, Varanasi-10. Indian.*
4.	*Publisher's Name, Nationality and Address*	:	*Parśwanātha Vidyāpīṭha I.T.I. Road, Karaundi. Varanasi-5, Indian.*
5.	*Editor's Name, Nationality and Address*	:	*Dr.Bhagachand Jaina 'Bhaskar' Dr. Shiva Prasad As above.*
6.	*Name and Address of Individuals who won the Journal and Partners or share-holders holding more than one precent of the total capital.*	:	*Parśwanātha Vidyāpīṭha Guru Bazar, Amritsar, (Registered under Act. XXI as 1860).*

We, Dr. Bhagachand Jain 'Bhaskar' and Shiva Prasad hereby declare that the particulars given above are true to the best of our knowledge and belief.

Dated : 1.4.2000

Signature of the Publishers
S/d Dr. Bhagachand Jain' Bhasakar'
Shiva Prasad

Computer Composing by : ***Sarita Computers,** Aurangabad, Varanasi, 221010, Ph. 359521.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.

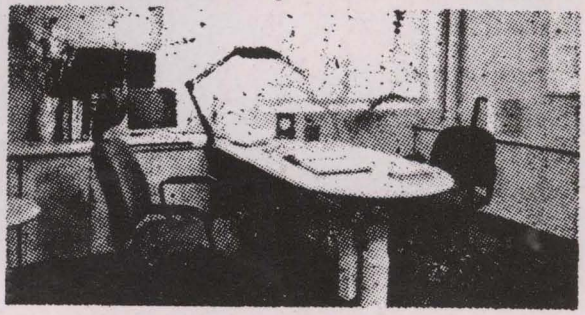

ONLY NUWUD.®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications

NUCHEM LIMITED

E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748

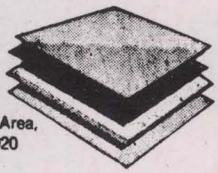

IS : 12406

NUWUD MDF

The one wood for all your woodwork

MARKETING OFFICES: • **AHMEDABAD:** 440672, 469242 • **BANGALORE:** 2219219 • **BHOPAL:** 552760 • **BOMBAY:** 8734433, 4937522, 4952648 • **CALCUTTA:** 270549 • **CHANDIGARH:** 603771, 604463 • **DELHI:** 632737, 633234, 6827185, 6849679 • **HYDERABAD:** 226607 • **JAIPUR:** 312636 • **JALANDHAR:** 52610, 221087 • **KATHMANDU:** 225504, 224904 • **MADRAS:** 8257589, 8275121

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org